सन्तों का भक्तियोग

उन्मना के प्रकाश में

❖

डॉ० राजदेव सिंह

हिन्दी प्रचारक संस्थान
पा० बॉ० नं० १०६, पिशाचमोचन
वाराणसी-१

प्रकाशक विजय प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक सस्थान
(व्यवस्था कृष्णचन्द्रबेरी, एण्ड सन्स)
पो० बा० न० १०६, पिशाचमोचन
वाराणसी-१

सस्करण प्रथम, अक्टूबर १९६८
मूल्य : ५ रुपये

मुद्रक अरुणोदय प्रेस
ईश्वरगगी (नई बस्ती)
जे० ११/११७ ए-१
वाराणसी-१

समर्पण

श्री बलराज कृष्ण कपूर को

जालंधर में बिताए गए

दिनों की याद में

सप्रेम

सन्तों का भक्तियोग

उन्मनी के प्रकाश मे

१

संत और संत-साहित्य

१—'सन्त' शब्द की व्युत्पत्ति ढूँढ़ने के क्रम में विद्वानों ने संस्कृत के सत्, सन्, शान्त आदि शब्दों की व्याकरणिक समीक्षा तथा प्रयोग एवं अर्थगत विभिन्नता की पर्याप्त छान-बीन की है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति जानने का मुख्य प्रयोजन होता है उसके सही अर्थ को जानना। परन्तु कभी-कभी किसी प्रचलित अर्थ की संगति खोजने के लिये भी शब्द विशेष की व्युत्पत्ति खोजी जाती है। इसी स्थिति में एक शब्द की कई-कई व्युत्पत्तियाँ सामने आती हैं। सत शब्द के साथ ठीक यही स्थिति है।

सन्त शब्द के पुराने प्रयोगों की समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि अधुना-प्रचलित साम्प्रदायिक अर्थ में इसका प्रयोग बहुत परवर्ती है। जहाँ तक इस शब्द की पुरानी अर्थ-परम्परा का प्रश्न है महाभारत में इसका प्रयोग सदाचारी के

१—(क) डॉ० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल, योग-प्रवाह पृ० १५८।
(ख) पं० परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० ३-६।
(ग) वेददर्शनाचार्य श्री मण्डलेश्वर श्री स्वामी श्री गंगेश्वरानन्द जी महाराज द्वारा समीक्षित 'सन्त' शब्द की चार भिन्न व्युत्पत्तियों को भी इस प्रसंग में देखा जा सकता है। दे० सन्त दर्शन, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, प्रथम संस्करण, पृ० ३।

अर्थ में हुआ है।[१] भागवत में यह पवित्रात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[२] भर्तृहरि ने सन्त शब्द का प्रयोग परोपकारी[३] के अर्थ में किया है और कालिदास ने बुद्धिमान्[४] के अर्थ में। धम्मपद में सन्त शब्द शान्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[५]

२—ईसा की १४ वीं शताब्दी में वारकरी या बिट्ठल सम्प्रदाय के भक्तों के लिये सन्त शब्द का प्रयोग साम्प्रदायिक अर्थ में सम्भवतः इसका सबसे पहला प्रयोग है।[६] और चूँकि बिट्ठल या वारकरी सम्प्रदाय के सन्तों की साधना बहुत कुछ निर्गुण-भक्ति की साधना थी अतः आगे चलकर निर्गुण-भक्ति की साधना करने वाले अन्य भक्तों को भी 'सन्त' कहा गया।

३—लगता है कि 'सन्त' शब्द का यह साम्प्रदायिक प्रयोग ज्ञानेश्वर (चौदहवीं शती विक्रमीय) आदि दक्षिण भारतीय निर्गुण भक्तों के लिये शुरू होकर भी उतना रूढ़ नहीं हुआ था जितना आगे चलकर पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी के उत्तर भारतीय निर्गुण भक्त कबीर एव उनके समकालीन तथा परवर्ती निर्गुण-भक्तों के लिये प्रयुक्त होने पर हुआ। कबीर को 'आदिसंत' कहने-मानने का प्रचलन इस बात का गवाह है। कबीर के पहले ज्ञानेश्वर आदि के साथ जिस निर्गुण-सन्त परम्परा का उद्भव हुआ उसके लिये आठवीं शताब्दी के सरहपाद एव शकराचार्य से लेकर दसवीं शताब्दी के गोरखनाथ तक भूमि तैयार होती

१—आचार लक्षणा धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः।

२—प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वय हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः॥
भागवत, १,१९,८॥

३—सन्तः स्वय परहिते विहिताभियोगाः॥

४—सन्तः परीक्ष्यान्तरद् भजन्ति मूढ़ परप्रत्ययनेन बुद्धिः॥

५—सन्त अस्स मन होति। अर्हन्त वग्ग, गाथा ७
अधिगच्छे पदे सन्त सखारूपसम सुख। भिक्खुवग्ग, गाथा ९।

६—'Now 'Santa' is almost a technical word in the Vitthal Sampradaya, and means any man who is follower of that Sampradaya. Not that followers of other Sampradayas are not Santas, but the followers of the Varkari Sampradaya are Santas par excellence.'—Mysticism in Maharastra, By Prof. R. D. Ranade, Poona, 1933, P. 42.

रही थी परन्तु उसको स्पष्ट व्यवस्थित रूप सबसे पहले कबीर के हाथों मिला। कबीर की इस महार्घ देन को उनके परवर्ती प्रायः सभी सन्तों ने स्वीकार किया है। अतः कबीर तथा कबीर की रीति-नीति एव आस्था-विश्वास का अनुगमन करने वाले दूसरे निर्गुण-भक्तों के लिये प्रयुक्त होकर 'सन्त' शब्द पूर्वापेक्षया थोड़ा और रूढ तथा साम्प्रदायिक हो गया।

४—किन्तु एक बात फिर भी स्मरण रखने की है कि 'सन्त' शब्द जितने रूढ़ अर्थ में आजकल प्रयुक्त होने लगा है कबीर या उनके बहुत दिनों बाद तक भी उसमें उतना अर्थ-सकोच नहीं आया था।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'सत' शब्द का बहुशः प्रयोग किया है[1] परन्तु सर्वत्र वह अपनी पूर्ववती वैविध्यपूर्ण अर्थ-परम्परा के अनुकूल ही प्रयुक्त हुआ है और निर्गुण ब्रह्म के उपासक का अर्थबोध न कराकर भक्त, परपोकारी, पर दुःख कातर, सदाचारी, पवित्रात्मा, सज्जन, बुद्धिमान्, सद्सद्विवेकशील, अराग, अलेप, द्वन्द्वातीत, ईश्वर एव वेद के प्रति आस्थाशील, निर्विकार चित्त वाले महापुरुष का अर्थ देता है। शब्दों के प्रयोग में अतीव सयमशील तथा नाथों, सिद्धों एव कबीर आदि 'ज्ञानाभिमानी शुद्रों'[2] के कट्टर विरोधी तुलसी दास ने 'सन्त' शब्द का जिस उदारता से प्रयोग किया है वह इस बात का अन्यर्थ गवाह है कि गोस्वामी जी के समय (१७ वीं शताब्दी) तक सन्त शब्द का प्रयोग साम्प्रदायिक और रूढ़ नहीं हुआ था। बहुत बाद तक स्वयं तुलसी दास को भी 'सन्त' कहा जाता रहा है जो 'सन्त' शब्द के अधुनाप्रचलित अर्थ की दृष्टि से नितान्त असंगत है। हाँ, इतना अवश्य है कि उनके जमाने में कुछ ऐसे लोगों को सन्त कहा जाता था जिन्हें वे 'सन्त' मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना है—

झूठो है झूठो है झूठो सदा, जग संत कहत जे अन्त लहा है।
जानपने को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है॥

यह जानपनों का गुमान कबीर की ओर सकेत करता लग सकता है।

५—स्पष्ट है कि छिट-पुट रूप से, तथा वारकरी आदि सम्प्रदायों में सीमित रूप से 'सन्त' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग भले ही चौदहवीं

१—वैसे तो सारे 'मानस' में सन्त शब्द का बहुशः प्रयोग हुआ है पर बालकाण्ड अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड तथा सुन्दर काण्ड में सन्तों के स्वभाव एवं लक्षणों के विशद वर्णन इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

२—प्रस्तुत विशेषण स्वय गोस्वामी जी ने प्रयुक्त किया है।

शती विक्रमी से होने लगा हो पर आज यह शब्द जिस तरह नितान्त रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है वह बीसवीं शताब्दी में हिन्दी-अलोचना और अनुसंधान की प्रगति के साथ विकसित हुआ है। जिन्हें आज निर्भ्रान्त रूप से 'संत' कह दिया जाता है आचार्य शुक्ल ने उन कबीर आदि संतों को 'निर्गुण' या 'निर्गुणमार्गी' कहना आवश्यक समझा था। डॉ० बड़थ्वाल ने भी उन्हें अकेले 'संत' न कहकर 'निर्गुनियों' या 'निर्गुणपंथी' कहकर सम्बोधित किया है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल और डॉ० बड़थ्वाल के समय तक (अर्थात् सन् १९३० तक) 'सन्त' शब्द अपने अधुनाप्रचलित अर्थ में पूरी तरह रूढ़ नहीं हुआ था। कबीर आदि के साहित्य के अभिनिवेशपूर्ण अध्ययन, मनन एवं मूल्यांकन के साथ-साथ सन्त शब्द क्रमशः रूढ़ होता गया है और यह कि इस शब्द की अर्थ-सीमा निर्धारित करने में कबीर आदि निर्गुण मार्गी सन्तों तथा उनके द्वारा बताए गए सन्त-लक्षणों से पूरी सहायता ली गई है।

६—सन्त शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ-परम्परा को खोजने-समझने का प्रयास इन्हीं सन्तों (कबीर आदि) एवं उनके साहित्य को समझने के क्रम में हुआ था, और जैसा हमने अभी देखा है, इस शब्द को पूर्ण पारिभाषिक मर्यादा बीसवीं सदी के द्वितीय चरण में मिली है। जिज्ञासा सहज है कि इस पारिभाषिक मर्यादा का कारण क्या है?

संत शब्द में निर्गुण ब्रह्म के उपासक का अर्थ रूढ़ होता तो आचार्य शुक्ल आदि को उसके साथ निर्गुण, निर्गुनियों या निर्गुणमार्गी विशेषण जोड़ने की आवश्यकता न पड़ती। साथ ही सत्, सन् आदि से व्युत्पन्न संत और उसकी अर्थ परम्परा अगर आचार्य शुक्ल आदि की निगाह में होती तो फिर जहाँ उन्होंने कबीर आदि को निर्गुणमार्गी संत कहा वहीं तुलसी आदि को सगुणोपासक संत भी कहते। और नहीं तो दोनों को भक्त तो कहा ही जा सकता था।

मध्यकालीन भक्त कवियों के सम्बन्ध में समीक्षकों एवं इतिहासकारों ने नाभादास के भक्तमाल की पूरी सहायता ली है। ध्यान देने की बात है कि नाभादास ने संत और भक्त में कोई अन्तर नहीं किया है। वे कबीर और तुलसी दोनों को भक्त कहते हैं। कबीर के समकालीन समझे जाने वाले रैदास, पीपा, धन्ना तथा कमाल ने कबीर को जाति से जुलाहा होते हुए भी भक्ति के कारण ऊँचा हो जाने वाला बताया है। आगे चलकर मीरा बाई के समय में उनकी गणना प्राचीन पौराणिक भक्तों तक के साथ होने लगी थी। धन्ना का

तो यहाँ तक कहना है कि रैदास, सेन और कबीर का यश सुनकर ही उनमें भक्ति-भाव जगा था और परिणामस्वरूप भगवान् उन्हें प्रत्यक्ष मिल गए थे—'इहि बिधि सुनि कै जाट रौ उठि भगती लागा। प्रतषि मिले गुसाइया धन्ना बड़ भागा।' सवाल है कबीर आदि को 'संत' क्यों कहा गया और संत की वैविध्यपूर्ण अर्थ-परम्परा को नकार कर इसे निर्गुणब्रह्म के उपासक अर्थ में सीमित क्यों कर दिया गया?

७—'संत' और 'भक्त' का अन्तर समझने-समझाने का क्रम बड़ी तेजी से उस समय शुरू हुआ जब कुछ वरिष्ठ यूरोपियन पण्डितों ने भारतीय भक्ति-आन्दोलन को ईसाइयत की देन बताया। भक्ति पर ईसाइयत के प्रभाव का सन्देह लासेन और वेबर ने बहुत पहले ही उठाया था। डॉ० ग्रियर्सन ने इस सन्देह को काफी व्यवस्थित ढंग से सामने रक्खा। उनका कहना था कि भक्ति मद्रास प्रान्त में आकर बस गए नेस्टोरियन प्रदेश के ईसाइयों से ग्रहण की गई है।[१] अन्यत्र उन्होंने विस्तार से समझाने की कोशिश की है कि यह भक्ति का आन्दोलन जो उन सब आन्दोलनों से कहीं विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि जो बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, वह भारतवर्ष की अपनी चीज नहीं है[२] क्योंकि कोई हिन्दू नहीं जानता कि यह चीज कहाँ से आई। उनकी दृष्टि में भारतवर्ष के अन्य धार्मिक आन्दोलनों से भक्ति का आन्दोलन इस अर्थ में विशिष्ट है कि यह ज्ञान का विषय न होकर रस का विषय है। उनके मत से पन्द्रहवीं शताब्दी में उठने वाले इस आन्दोलन द्वारा हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति की नहीं है बल्कि जिन का सम्बन्ध मध्ययुग के यूरोपियन मरमी बर्नर्ड आफ क्लेयरवक्स, टामस-ए-केम्पिस, एकहर्ट और सेंटथेरिसा से है।[३] विलसन और केई आदि ने भी प्रकारान्तर से यही माना है।

१—विस्तार के लिए दे० Grierson, Modern Hinduism and its debt to the Nestorians, Journal of the Royal Asiatic Society, 1907, P. 313

२—Encyclopiedea of Religion and Ethics, Bhakti, Vol, II 1909

३—वही।

८—भक्तों (भारतीय) और संतों (ईसाई) के अन्तर को स्पष्ट करने की जरूरत यूरोपीय विद्वानों की उक्त धारणाओं की निर्बलता सिद्ध करने के लिये ही शुरू में उठी थी। और चूँकि डॉ० ग्रियर्सन ने एकाधिक बार सूरदास, नन्ददास, मीराबाई, तुलसीदास[1] आदि भक्त कवियों पर भक्ति-पद्धति के प्रभाव की चर्चा की थी और इन्हें मध्ययुग के ईसाई मरमी सन्त बर्नार्ड, ह्यूगो, रिचार्ड, एकहर्ट आदि के समान बताया था अतः भारतीयविद्या और साहित्य के विशेषज्ञों ने भारतीय भक्तों और ईसाई सन्तों (सेण्ट्स) के भेदाभेद को समझने का प्रयास काफी सूक्ष्मता से किया। आज जिन्हें हम सन्त कहते हैं वे कबीर, रैदास आदि इन चर्चाओं के प्रमुख विषय नहीं थे। मुख्य थे सगुण ब्रह्म के उपासक सूर, तुलसी आदि। अतः अन्य बहुत सारे भेदों के साथ सन्तों और भक्तों का बड़ा भेद इस बात में माना गया कि सन्त निर्गुण ब्रह्म का उपासक होता है और भक्त सगुण का। खण्डन-मण्डन के इसी झोंके में यहाँ तक मान लिया गया कि निर्गुण ब्रह्म भक्ति का विषय ही नहीं हो सकता यद्यपि नारद पाचरात्र में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के सर्वोपाधि-निर्निर्मुक्त स्वरूप को तत्पर होकर (अर्थात् अनन्य भाव से) समस्त इन्द्रियों और मन के द्वारा सेवन करना ही भक्ति है[2]।

९—आगे चलकर कबीर आदि का साहित्य जब प्रकाश में आया, रवीन्द्रनाथ ने कबीर के पदों का अनुवाद किया, 'हिन्दी नवरत्न' में दसवाँ रत्न जुड़ा और (हर बात को सन्तों को सम्बोधित करके कहने वाले) दादू, रैदास, कबीर आदि के अध्ययन किए गए तो स्पष्ट हुआ कि सूर, तुलसी आदि सगुण भक्तों से इनकी आचार-पद्धति और वक्तव्य भिन्न हैं। इस भेद को सूचित करने में अंग्रेजी के 'सेण्ट' शब्द से पूर्ण ध्वनिसाम्य (तथा अर्थ-साम्य भी) रखनेवाले 'सन्त' शब्द ने सबसे अधिक सहायता की। लोक में व्यवहृत सन्त शब्द ने भी इसमें सहायता दी। बनारस के आस-पास सामान्य जनता नीची जातियों में उत्पन्न होनेवाले सीधे-सादे भक्तजनों को सन्त कहकर आदर दिखाती है। वह भक्त और सन्त में केवल जातिगत भेद को स्वीकार करती है। संयोग से जो अपनी धारणाओं में ईसाई सन्तों के अधिक समशील थे वे कबीर आदि नीची जातियों

१—डॉ० ग्रियर्सन ने तुलसीदास को अपनी भावनाओं में सबसे बड़ा ईसाई कहा है।

२—सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृदृषीकेण हृषीकेशं सेवनं भक्ति रुच्यते।
—दे० भक्तिरसामृतसिन्धु, १,१२

में उत्पन्न हुए थे। अंग्रेजी के सेण्ट्स की चर्चा उन दिनों गर्म थी अतः लोक-प्रचलित सन्त को अंग्रेजी सेण्ट ने अभिजात प्रयोग बना दिया था। साथ ही कबीर आदि द्वारा बताए गए सन्त-लक्षणों से इस काम में पूरी तरह सहायता ली गई। धीरे-धीरे सन्त शब्द पारिभाषिक हो गया। अज्ञात रूप से जाति भेदवाला अर्थ भले काम करता रहा हो पर सन्त शब्द धीरे धीरे भक्त और सन्त में जातिभेद का वाचक न रहकर मतभेद का सूचक हो गया है। इस प्रकार सन्त चाहे जिस शब्द से व्युत्पन्न हो उसकी वर्तमान अर्थ-सम्पत्ति देशी 'सन्त' और विदेशी 'सेण्ट' के सहज किन्तु अवचेतन साहचर्य का परिणाम है। देशी प्रयोग के अनुसार सन्त भक्त ही है। विदेशी प्रयोग के अनुसार सन्त वह है जो इस बात पर जोर देता हो कि आत्मज्ञान ही परमार्थबोध का साधन है और आत्मपवित्रीकरण (Self purification) तत्त्वज्ञान से कहीं ऊँचा है। × × × आत्मा किसी नियम की पाबन्द नहीं है, स्रष्टा और सृष्टि में कोई भेद नहीं है। × × भेद की अनुभूति माया है।

१०—सन्त शब्द के अधुना प्रचलित पारिभाषिक अर्थ में सन्त की देशी अर्थ-सम्पत्ति को पूरा स्थान नहीं मिला है। सन्त भक्त भी हो सकते हैं इस पर लोगों को एतराज है। ऐसा क्यों है? देशी सन्त भी भक्त थे और विदेशी सेण्टस भी, फिर पारिभाषिक 'सन्त' भक्त क्यों नहीं है? शायद इसलिये कि मान लिया जाता है कि सन्तों का ब्रह्म निर्गुण है और निर्गुण ब्रह्म भक्ति का विषय नहीं है। निर्गुण ब्रह्म भक्ति का विषय है अब यह बात अजानी नहीं है।

जो हो सन्त शब्द की देशी विदेशी अर्थ-परम्परा और सन्तों की भक्ति को ध्यान में रखकर अगर देखा जाय तो सन्त शब्द की व्युत्पत्ति शुद्ध देशी 'सन्त' से है।

११—इसलिये मेरी दृष्टि से सन्त ऐसे शान्त एव शुद्ध आचरण वाले भक्तों को कहते हैं, जो नीची जातियों में पैदा हुए हैं,[१] निर्गुण ब्रह्म में आस्था रखते हैं, जाति-पाँति के बन्धनों को स्वीकार नहीं करते, गुरु के प्रति नितान्त आस्थाशील होते हैं, और 'आदिसन्त' कबीर, के किसी अनुयायी या कबीर जैसी कथनी-करनी वाले को अपना पथप्रदर्शक मानते हैं, उनके मत, सिद्धान्त, रीति-नीति, आचार एव साधना-पद्धति की सीधी परम्परा में पड़ते हैं। सन्त, सन्त-साहित्य, सन्तमत, सन्त-परम्परा आदि शब्दों का प्रयोग मैं इसी अर्थ में करता और करने की सिफारिश करता हूँ।

१—अपवाद सर्वत्र होते हैं। यहाँ भी हैं पर वे सभी अपवाद हैं।

२

सन्तों की भक्ति : ऐतिहासिक सन्दर्भ

१२—सन्तों की भक्ति को लेकर विद्वानों में काफी विवाद रहा है।[१] उनकी दृष्टि में निर्गुण और रूपातीत ब्रह्म तो ज्ञान का विषय है। भक्ति के लिए ब्रह्म का सगुण होना अनिवार्य है। ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में जिस निर्गुण ब्रह्म को ज्ञान का विषय बताया गया है और सन्त जिस निर्गुण राम को भजने का उपदेश करते हैं वह निर्गुण होने पर भी भक्ति के लिए पूरी तरह ग्राह्य है। नारद पाचरात्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'भगवान् के सर्वोपाधि विनिर्मुक्त रूप को तत्पर होकर (अनन्य भाव से) समस्त इन्द्रियों और मन के द्वारा सेवन करना ही भक्ति है।'[२] इसी प्रकार शाण्डिलीय भक्ति सूत्र १, २ में वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' को ईश्वर के प्रति परानुरक्ति कह कर समझाया गया है—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। 'सापरानुरक्ति रीश्वरे।'—अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा और कुछ नहीं वह ईश्वर विषयक परानुरक्ति ही है। स्पष्ट है कि भक्तिसूत्रों अतः भक्तिशास्त्र में

१—हिन्दी साहित्य के इतिहासों तथा सन्तों एवं भक्ति पर लिखे गए ग्रंथों में इस विवाद को देखा जा सकता है।

२—सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशं सेवनं भक्तिरुच्यते॥—भक्ति रसामृत सिन्धु, १, १२,

निर्गुण ब्रह्म को भक्ति का अविषय नहीं माना गया है। खैर इस विवाद को विद्वानों ने काफी गहराई और विस्तार से निरस्त कर दिया है।[१]

इस सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान जिस ओर नहीं गया है वह यह है कि 'दक्षिण में उपजने वाली जिस भक्ति को रामानन्द लाए थे और कबीर ने सत-दीप नवखण्ड में प्रगट किया था'[२] वह क्या सन्तों के लिए पराई चीज थी जिसे उन्होंने ग्रहण कर लिया था, या सन्तों का उससे कोई निजी सम्बन्ध भी था ?

१३—सत-साहित्य को सरसरी दृष्टि से पढ़नेवाला भी इस बात को स्वीकारेगा कि भक्ति के विषय में सत जो कुछ और जिस तरह कहते हैं कि वह नया नया सीखा हुआ कदापि नहीं लगता, बल्कि साफ-साफ लगता है कि भक्ति उनकी अपनी ही चीज है। उत्तर भारत में भक्ति के विकास का इतिहास भी हमें ऐसा ही मानने का सकेत देता है।

भक्ति मूलतः आगमों की चीज है। वैसे विद्वानों में इस बात पर भी विवाद है कि भक्ति वैदिकधर्म की अपनी विशिष्टता है या नहीं। ऋग्वेद के वरुणसूक्त तथा उसकी अन्य ऋचाओं में भक्ति की कल्पना का जो आभास मिलता है[३] उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु इतना स्पष्ट है कि वैदिक रीति-नीति और आचार-व्यवहार में भक्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। इसके विपरित आगमों में सगुण ईश्वर की उपासना का व्याख्यान किया गया है और उसकी अनुकूलता, प्रसन्नता एव कृपा पाने के लिए भक्ति को एकमात्र साधन माना गया है।

ईसापूर्व की छठीं शताब्दी में वैचारिक ऊहापोह ने अनेक नए क्रांतिकारी दार्शनिक मतवादों और धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म दिया था। उनमें से बहुत सारे क्षणस्थायी सिद्ध हुए। दीर्घजीवी सम्प्रदायों में से जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव चार ऐसे सम्प्रदाय हैं जिन्होंने आगे के इतिहास को रूप दिया है। ये चारों सम्प्रदाय अवैदिक हैं। इनमें से प्रथम दो अपने मूलरूप में अनीश्वरवादी थे पर शैव और वैष्णव मतवाद ईश्वरवादी हैं और ईश्वर की अनुकूलता के लिए

१—तर्कपुरस्सर और विस्तृत विवेचन के लिए दे० कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, १९५९, पृ० १४३-१५२,

२—अनुश्रुति है कि—'भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सतदीप नवखण्ड ॥

३—दे० ऋग्वेद, वरुणसूक्त ,तथा ४, १९, ६, ७, ८८, ६.

भक्ति को एकमात्र साधन मानते हैं। विद्वानों का मत है कि भक्ति मूलतः इन्हीं अवैदिक परम्परावाले शैव एवं वैष्णव आगमों की वस्तु है। संतों के भौतिक-मानसिक परिवेश के अध्ययन-विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि संत आगमों की इसी अवैदिक परम्परा से सम्बद्ध हैं[१] अतः आगम उनके परम्पराप्राप्त शास्त्र हैं और भक्ति उनकी अपनी ही परम्पराप्राप्त वस्तु। रही वैष्णव भक्ति, तो वह भी संतों की पूर्ववर्ती परम्परा से घनेभाव से सम्बद्ध है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच उत्तर भारत में प्रबलवेग से प्रसरित होने वाली वैष्णव भक्ति का इतिहास इसका स्पष्ट समर्थन करता है।

१४—यह सर्ववादि सम्मत है कि सन्तमत नाथमत का उत्तराधिकारी है। स्वय नाथमत महायान बौद्धधर्म से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है यह भी विदित ही है। विद्वानों ने पाया है कि उत्तरकालीन वैष्णव भक्तिवाद भी महायानियों की भक्ति का ही विकसित रूप है।[२] इस प्रकार नाथमत, सन्तमत और उत्तर-कालीन वैष्णव धर्ममत महायान बौद्धधर्म से समान रूप से प्रभावित और सम्बद्ध हैं। महायान बौद्धधर्म में पूजित प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि देवी देवताओं की मूर्तियाँ एव वैष्णवों के परमाराध्य वासुदेव और लक्ष्मी की मूर्तियों में विलक्षण रूप से मिलने वाली समानता[३] उक्त प्रभाव एवं साम्य का अच्छा सकेत देती है। भक्तों में परमादृत जिस नाम सकीर्तन को ग्रियर्सन ने ईसाई धर्म के प्रभावस्वरूप आगत बताया है[४] चीन और भारत के सकीर्तनों के साम्य के आधार पर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने उसे महायान बौद्धधर्म से स्पष्टतः सम्बद्ध सिद्ध किया है।[५] उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि आर्येतर जातियों में बहुत पहले से ही विद्यमान दुःखवाद, वैराग्य, मूर्तिपूजा, आदि बातें हिन्दूधर्म में बौद्धधर्म से ही होकर आई हैं।[६]

१—विस्तृत विवरण के लिए दे० मेरा शोधप्रबध 'सत साहित्य की दार्शनिक एव धार्मिक पृष्ठभूमि, प्रथम खंड।

२—दे० कर्न, मैनुअल आफ बुद्धिज़म, पृ० १२४.

३—दे० दीनेशचन्द्र सेन, बेंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृ० ४०१ तथा आगे।

४—दे० द जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १९८७ में प्रकाशित लेख 'हिन्दूइज़म एण्ड नेस्टोरियन्स'।

५—दे० सूर साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५६, पृ० ८६।

६—दे० वही, पृ० ४६,।

श्री दिनेशचन्द्र सेन का कहना है कि बङ्गाल के इतिहास से यह बात अलग नहीं की जा सकती कि बौद्धधर्म का ह्रास होते ही महायान मत से विकसित नाथपन्थ वैष्णवों में शामिल हो गए। इसी प्रकार परकीया प्रेम को अपनी प्रेममूलक सहज-साधना का प्रधान उपाय समझने वाले आउल-बाउल आदि अनेक सहजिया पन्थ भी सोलहवीं शताब्दी में नित्यानन्द के वैष्णव झण्डे के नीचे एकत्र हुए थे। इन्हीं नित्यानन्द को महाप्रभु चैतन्य ने अपने सम्प्रदाय में आमान्त्रित किया था और यहीं से गौड़ीय वैष्णव धर्म ने नवीन रूप धारण किया था।[१] बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच बङ्गाल और उड़ीसा में प्रचलित धमाली नामक लोकगीत वैष्णव कवियों की प्रेम साधना का पता तो देते ही हैं, योगी जाति से उनका गहरा सम्बन्ध था इसे भी व्यक्त करते हैं और इस प्रकार यह मानने का सङ्गत आधार देते हैं कि आगे चलकर विकसित होने वाली सन्त परम्परा में स्वीकृत वैष्णव भक्ति उनकी अपनी ही परम्परागत सम्पत्ति है जिसमें नाथों की विन्दुसाधना ने इन्द्रिय निग्रह को और रामानन्द ने रामनाम को प्रविष्ट कराके उसे नया रूप दिया है। इन गीतों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सोलहवीं शताब्दी में नित्यानन्द के साथ जो शक्ति चैतन्य सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुई और उड़ीसा के धर्माचार्यों द्वारा चैतन्य और नागार्जुन के मतों के समन्वय से एक विशाल वैष्णव-बौद्ध साहित्य निर्मित हुआ, यह कोई नई चीज नहीं थी। वस्तुतः उसके पीछे तीन-चार सौ वर्षों का इतिहास था।

१५—हिमालय की तलहटी में बसे हुए रंगपुर, दिनाजपुर आदि जिलों में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में प्रचलित उक्त धमाली गीतों के दो प्रकार निर्दिष्ट किए गए हैं—एक को असल धमाली या कृष्ण धमाली कहते हैं और दूसरे को शुक्ल धमाली। ये गीत घोर श्रृङ्गारी हैं—यहाँ तक कि असल धमाली गीतों को, अत्यधिक अश्लील होने के कारण गाँव के बाहर गाया जाता है। श्रीदीनेशचन्द्र सेन ने बताया है कि ये कृष्णधमाली गान ही किसी समय बंगाल के जनसाधारण की राधाकृष्ण की प्रेमकथा सुनने की भूख मिटाते रहे हैं। प्राचीन राजवंशी जाति तथा योगी जाति के लोग आज तक बंगाल के अनेक स्थानों पर यत्नपूर्वक इनकी रक्षा करते आए हैं।[२] कहते हैं प्रसिद्ध वैष्णव कवि चण्डीदास

१—दे० बेंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, श्री दीनेशचन्द्र सेन, पृ० ४०३,।

२—बेंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृ० ४०३।

था। कृष्णकीर्तन नामक ग्रन्थ शुक्लधमाली नामक गीतों को संशोधित करने के अभिप्राय से ही लिखा गया था। ये सशोधित गीत भी कम अश्लील नहीं हैं। 'कृष्णकीर्तन' के सशोधित गीतों की अश्लीलता के आधार पर श्रीसेन ने अनुमान लगाया है कि कृष्णधमाली गीत कितने अश्लील और गर्हित रहे होंगे।[१] इस ग्रन्थ में जयदेव कृत गीतगोविन्द के दो गीतों को भी अनूदित किया गया है। ऐसे भी अनेक अवतरण इसमें प्राप्त हैं जिन पर गीतगोविन्द की स्पष्ट छाप है।[२] प्रकट है कि कृष्णकीर्तन के गीत, धमालीगीत और जयदेव कृत गीतगोविन्द के गीत एक ही प्रकृति की चीजें हैं और इस बात का सकेत देते हैं कि वैष्णव भक्ति साधना का आदि रूप कैसा था। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच, बगाल और उड़ीसा से प्राप्त ताम्रशासनों पर हरपार्वती की वन्दना में उनके शृङ्गारिक हाव-भाव एव आलिंगन-परिरम्भन के घोर शृङ्गारी वर्णन, पुरी और कोणार्क के मन्दिरों के रतिचित्र, पुरी के मन्दिर में प्रचलित विलास प्रथा को वाणी देने वाले वैष्णवभक्त जयदेव के गीत गोविन्द वाले गीत, बगीय साहित्य परिषद् में सुरक्षित उस युग की हर-पार्वती की अश्लीलमूर्ति—सभी उस युग की भक्तिभावना का अच्छा परिचय देते हैं और स्पष्ट करते हैं कि धमालीगीत और कृष्णकीर्तन में उनका सशोधित रूप मूलतः भक्ति के आवेश में लिखे, गाए और स्वीकारे गए थे।

१६—जहाँ तक सन्तों की पूर्ववर्ती परम्परा से उक्त शृङ्गारिक गीतों के सम्बन्ध का सवाल है विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया है। यह अकारण नहीं है। आगे चलकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में नाथों की बिन्दुसाधना से प्रभावित सन्तों और तुलसी आदि मर्यादाप्रवण सगुण भक्तों ने भक्ति को जो स्वरूप दिया उसमें मासल शृङ्गारिकता के लिए अवकाश नहीं रह गया, उल्टे शृङ्गारिकता को भक्ति का विरोधी मान लिया गया। लेकिन प्रारम्भिक रूप में भक्ति शृगारिकता की विरोधी नहीं थी। बल्कि अधिक सच यह है कि भक्ति के क्षेत्र से शृङ्गारिकता को अपदस्थ करने वाले सन्तों की पूर्ववर्ती भक्ति-परम्परा से इस शृङ्गारिकता को घना सम्बन्ध था और किसी-न-किसी रूप में वह आगे भी चलता रहा है। जोगीडा[३] और कबीर[४] नामक शृङ्गारी गीत इसके प्रमाण हैं।

१—वही।

२—हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, द डेल्ही सल्तनत, पृ० ५१२।

३—दे० जोगीड़ा पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी-साहित्य कोश, भाग १, सस्करण २, पृ० ६१२,

४—दे० वही पृ०६१० पर 'कबीर' पर मेरी टिप्पणी।

१७—श्री सेन की गवाही पर हमने अभी-अभी देखा है कि योगी जातिके लोग आजतक बंगाल के अनेक स्थानों पर उक्त घमाली गीतों की यत्नपूर्वक रक्षा करते आए हैं। स्पष्ट है कि ये गीत जहाँ वैष्णवभक्तों के दाय हैं वहीं योगियों के भी धार्मिक दाय हैं और कृष्णकीर्तन की अपेक्षा थोड़े और अधिक परिष्कृत होकर आज भी 'जोगीड़ा' तथा 'कबीर' के रूप में प्राप्त होते हैं। मेरा निश्चित विश्वास है कि होली के अवसर पर उत्तर प्रदेश और बिहार में गाए जाने वाले जोगीड़ा एवं कबीर नामक शृङ्गारी गीत उक्त धमाली गीतों के ही लोकगृहीत परवर्ती रूप हैं। इन गीतों का जोगीड़ा और कबीर नाम तथा पटने में दादू के पदों का जोगीड़ा रूप में गाया जाना इस बात का निश्चित संकेत देता है कि सन्तों और योगियों से इनका किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध था जो अब विस्मृत हो गया है।

१८—जो भी हो इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच पूर्वी प्रदेशों में स्वरूप ग्रहण करने वाला वैष्णव धर्म अपने प्रारम्भिक रूप में लोकधर्म ही अधिक था और बौद्धों तथा शैवों की रीति-नीति, आस्था-विश्वास आदि से अनेक तत्वों को स्वायत्त करके कल्पित-गठित हुआ था। वल्लभाचार्य के बहुत पहले ही इस लोक धर्म का प्रवेश हिन्दी के लोकगीतों में हो गया था और सूरसागर के गीतों को आचार्य शुक्ल ने जिस चली आती हुई गीत-परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकसित रूप कहा है[१] वह गीत-परम्परा निश्चयतः यही थी। सूरदास के भजनों में जयदेव के पदों का अनुवाद[२], कबीर द्वारा अपनी रचनाओं में उनका सादर स्मरण तथा उन्हें कलिकाल में

१—दे० हिन्दी साहित्य का इतिहास, प० रामचन्द्रशुक्ल, सम्वत् १९९९, पृ० १४२,

२—तुलना कीजिए—

(क) मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवश्यामस्तमालद्रुमै-
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिदं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशितश्चलितयोः प्रत्यध्व कुञ्जम।
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः ॥—गीत गोविन्द।

तथा

(ख) गगन घहराइ जुटी घटा कारी।
पौन झकझोर चपला चमकि चहूँ ओर सुवन तन चितै नन्द डरत भारी॥
कह्यो वृषभानु की कुँअरि सौं बोलिकै राधिका कान्ह घर लिए जारी॥

नामदेव की तरह जाग्रत भक्त[१] और भक्तिगत प्रेम का एकमात्र जानकार[२] बताना, आदिग्रथ में इनके पदों का सग्रह[३], भक्तमाल में नाभादास द्वारा इनका उल्लेख[४] आदि बातें इसके प्रमाण हैं कि हिन्दी-साहित्य के परवर्ती भक्तिगीतों की परम्परा जयदेव के गीतों तथा उसी प्रकृति वाले पूर्ववर्ती धमाली गीतों से जुड़ी हुई है। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सूरदास आदि सगुण वैष्णव भक्तों तथा कबीर आदि निर्गुण वैष्णव भक्तों की भक्ति का आदिरूप उस एक ही लोकधर्म से विकसित हुआ था जिसे एक ओर वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव ने शास्त्रसम्मत रूप दिया था तो दूसरी ओर रामानन्द तथा उनके गुरु राघवानन्द ने। सूरदास आदि द्वारा स्वीकृत-विज्ञापित कृष्णभक्ति, कबीर आदि सन्तों की निर्गुणी राम भक्ति और तुलसीदास की सगुण राम भक्ति जैसी धाराओं में प्रसरित होने वाली वैष्णवभक्ति ही भारतीय साधना की जीवनीशक्ति को विभिन्न रूपों में प्रकट करती है। मध्ययुग के वैष्णवभक्तों ने इसे जो रूप दिया है वह मूलतः बौद्ध महायान-भक्ति का विकसित रूप ही है। इस सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी का यह कथन पूर्णतया संगत है कि 'सच पूछिए तो उत्तरकालीन वैष्णव

दोउ घर जाहु सग नभ भयो स्याम रंग कुँवर कर गह्यो वृषभानु बारी ॥
गए वन ओर नवल नन्दकिशोर नवल राधा नए कुञ्ज भारी ॥
अंग पुलकित भए मदन तिन तन जए सूर प्रभु स्याम स्यामा विहारी ॥
सूरसागर, १३०२,

१—सभै मदि माते कोउ न जाग । संगही चोर घर मुसन लाग ॥
× × × × ×
सकर जागे चरन सेव । कलि जागे नामा जैदेव ॥क० ग्रं०, पद १९८, पृ० ११५

२—'भगति कै प्रेमि इनही है जाना'—दे० गुरुग्रन्थ साहब, रागु गौड़ी पद ३६,

३—आदिग्रन्थ में जयदेव के दो पद संग्रहीत हैं—रागु गूजरी, पद १, रागु मारू, पद १

४— प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीत गोविन्द उजागर ।
कोक काव्य नवरस्स सरस सिंगार को सागर ॥
अष्टपदी अभ्यास करैं तेहि बुद्धि बढ़ावैं ।
राधारमन प्रसन्न सुनन निश्चै तहँ आवैं ॥
सत सरोरुह पंड को पद्मापति सुख जनक रवि ।
जयदेव कवी नृप चक्कवै खँड मँडलेस्वर आन कवि ॥

धर्ममत पर महायान बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है। जिस प्रकार पुत्र का सम्बन्ध पिता की अपेक्षा माता से अधिक रहता है और जिस प्रकार माता के रक्त-मांस का अधिक भागधेय होकर भी पुत्र पिता के नाम से ही प्रसिद्ध होता है, वैसे ही हिन्दी वैष्णव धर्म का सम्बन्ध महायान से अधिक होते हुए भी वह वल्लभाचार्य (और रामानन्द[1]) के नाम से ही पुकारा गया[2]।"

अतः प्रकट है कि शिव के प्रति आस्थाशील हठयोगी नाथों की परम्परा में पड़ने वाले योगी और फिर सन्त, रामानन्द से दीक्षित होने के बाद ही भक्त हुए हों ऐसी बात नहीं। वस्तुतः उनकी पूर्ववर्ती परम्परा में, रामानन्द से कई शती पहले से ही भक्ति के संस्कार पोषित होते आए थे जिन्हें राम से संयुक्त करके रामानन्द ने उन्हें शैव की अपेक्षा वैष्णव रंग में रँग दिया था। रामानन्द ने 'आदिसन्त' कबीर को जो चेताया[3] था वह भक्ति नहीं, रामनाम था। निर्गुण भक्ति और रामानन्द सम्बन्धी जानकारियाँ इसकी गवाही देंगी।

निर्गुण-भक्ति

१९—उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति के प्रसार को सामान्यतया बौद्धधर्म के ह्रास तथा उसके हिन्दूधर्म में विलयन के साथ सम्बद्ध करके ही देखने का विशेष प्रचलन है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इससे भिन्न दिशा में सोचा ही नहीं गया है पर इतना अवश्य है कि इस ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। बौद्धधर्म से सीधे वैष्णव धर्म पर उतर आने का परिणाम यह होता है कि उत्तर भारत में उक्त धर्मों के मध्यवर्ती नाथपंथी शैवों की योग मार्ग वाली कड़ी अछूती रह जाती है। जबकि तथ्य यह है कि बौद्धधर्म शैवों के नाथपंथ में भी विलीन हुआ है और फिर अपने विकास के अगले चरण पर शैव सम्प्रदायों ने वैष्णव प्रभावों में आकर अद्वैत भाव की वैष्णव निर्गुणी भक्ति को रूप दिया है।

२०—कहते हैं नए नाथपंथ[4] के प्रतिष्ठापक गोरखनाथ पहले बौद्ध थे

१—आचार्य द्विवेदी ने सूरदास के प्रसंग में उक्त बात कही है अतः केवल वल्लभाचार्य का ही नाम लिया है।

२—दे० सूर साहित्य, १९५६, पृ०८५.

३—'कासी में हम प्रगट भए रामानन्द चेताए'—कबीर।

४—एक पुराने उल्लेख में हठयोग की दो विधियाँ बताई गई हैं—एक गोरखनाथ की पूर्ववर्ती विधि, जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय)

और बाद में शैव हो गए थे। इसी प्रकार प्रसिद्ध नाथसिद्ध हाड़ीपा भी बौद्ध से शैव हुए थे। सन्तों की विचार-परम्परा के सन्धानक्रम में मैंने पाया है सन्तमत बौद्ध-नाथ परम्परा का ही अगला विकास था।[१] उत्तरी भारत में वैष्णव-भक्तिवाद के प्रसार के मार्ग में ये योगमार्गी धर्ममत निश्चयतः सबसे बड़ी बाधा थे। आचार्य द्विवेदी ने काफी जोर देकर इस ऐतिहासिक सत्य का समर्थन किया है कि युक्त प्रान्त के और मध्यप्रदेश के उन भागों में जहाँ की भाषा हिन्दी है, वैष्णव मतवाद के प्रचार के पूर्व सर्वाधिक प्रचलित मतवाद (योगमार्गी) शैवधर्म था। उन्होंने भक्तिकालीन साहित्य तथा अन्य क्षेत्रों से प्रमाण देते हुए बताया है कि कबीर दास आदि ने उनकी सम्पूर्ण पद्धति को स्वीकार करके फिर रूपक द्वारा अपनी बात को इसी पद्धति के बल पर प्रतिष्ठित करने का मार्ग अवलम्बन किया है तो सूरदास ने अपने भ्रमरगीत प्रसंग में इस योगमार्ग की विकटता का प्रदर्शन करके वैष्णवधर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। जायसी के तथा अन्य प्रेमगाथाकार कवियों के ग्रन्थों से पता चलता है कि योगियों का मार्ग ही उस समय अधिक प्रचलित था। लोककथाओं में इन योगियों का बहुत उल्लेख है। उस युग के मुसलमान यात्री इन योगियों की करामातों का वर्ण बहुत ही हृदयग्राही भाषा में करते हैं। भक्तिवाद के पूर्व निस्सन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था।[२] संतों की भक्ति को वैष्णव आचार्यों की भक्ति ने पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है यह सच है, पर उनका मूल उत्स शैवभक्ति से ही सम्बद्ध है यह उससे भी अधिक सच है।

२१—आदिसंत कबीर तथा उनके परवर्ती सन्तों ने आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथपंथी शैवयोगियों को अपने मत का आचार्य माना है। संतों के विचार, जीवन-जगत् को देखने परखने की उनकी दृष्टि और उस देखे-परखे को अभिव्यक्त करने वाली भाषा, पारिभाषिक शब्द, छन्द, अलकार, सत्य को दोटूक ढग से कह देने की साहसिकता—सभी नाथपथी योगियों की सीधी

आदि ने किया था, और दूसरी गोरखनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट—
"द्विधा हठयोगस्तु गोरक्षादि सुसाधितः।
अन्योमृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥'

१—एतत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए दे० मेरे शोध प्रबन्ध, 'सन्त-साहित्य की धार्मिक एवं दार्शनिक परम्परा' में 'सन्तों की विचार-परम्परा' शीर्षक अध्याय।

२—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य की भूमिका, १९५१, पृ० ७०

परम्परा में पड़ते हैं। इनकी दार्शनिक दृष्टि भी शैव-सिद्धान्त से पूरी तरह मेल खाती है।

कश्मीरी शैव मत

२२—भारतीय धर्म-साधना के साहित्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से इस बात पर पर्याप्त विवाद रहे हैं कि मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्म में से कौन-सा मार्ग अधिक उपयुक्त है। सगुणमार्गी वैष्णवभक्तों ने इनमें से भक्तिमार्ग को ही सबसे अधिक उपयुक्त और सरल बताया है। इसके विपरीत अद्वैतवादी आचार्यों ने ज्ञान को ही एकमात्र मोक्षोपाय सिद्ध किया है। योगी कर्म को ही मोक्ष का अनन्य साधन बताता है। कश्मीरी शैव-सिद्धान्त के अनुवर्ती इन तीनों के समन्वय को मोक्ष के लिए आवश्यक मानते हैं। कश्मीरी शैव-सिद्धान्त के प्रति आस्थाशील 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में एक स्थान पर कहा है—'ज्ञान भिन्न कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की। एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।' अत आनन्दवादी शैव-सिद्धान्ती ज्ञानमार्ग, योगमार्ग और भक्तिमार्ग—तीनों के सामरस्य को चिदानन्द लाभ के लिए अनिवार्य समझता है।

कहते हैं कश्मीर शैवमत का प्रवर्तन स्वय शिव ने किया था। लोक में इसका प्रवर्तन करने वाले प्रथम आचार्य वसुगुप्त बताए जाते हैं। आचार्य वसुगुप्त ईसा की आठवीं शती के अन्त और नवीं शती के प्रारम्भ के आस-पास वर्तमान माने जाते हैं। क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्षिणी के आरम्भ में बताया है कि भगवान् श्रीकंठ ने स्वय स्वप्न में वसुगुप्त को महादेव गिरि की शिला पर अंकित शिवसूत्रों के उद्धार एव प्रचार का आदेश दिया था। ये ७७ शिवसूत्र ही कश्मीरी शैवमत के आधार हैं। 'स्पन्दकारिका में वसुगुप्त ने शिवसूत्रों के सिद्धांतों को विशद किया है। आगे चलकर इनके दो प्रधान शिष्यों में से कल्लट ने स्पन्दशास्त्र और सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञाशास्त्र नामक दो भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है'।

स्पन्दशास्त्र

२४—वसुगुप्त की 'स्पन्दकारिका' पर 'स्पन्दसर्वस्व' नामक अपनी वृत्ति में कल्लट ने 'स्पन्दशास्त्र' का प्रतिपादन किया है। उनके मत से परमेश्वर पूर्ण स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान है। वह केवल अपनी इच्छा शक्ति से जगत् की उत्पत्ति करता है। सृष्टि का न कोई प्रेरक कारण है न उपादान कारण।

सृष्टि ऐसा दिव्य चित्र है जो बिना चित्रपट और चित्रण-सामग्री के चित्रित कर दिया गया है। परमेश्वर उस दर्पण के समान है जिसमें प्रतिबिम्ब की तरह सृष्टि का आभास होता है, किन्तु दर्पण की ही तरह परमेश्वर सृष्टि से नितान्त अस्पृष्ट बना रहता है। एक परमेश्वर ही सत्य है और जीव परमेश्वर से अभिन्न है। स्पष्ट है कि स्पन्दशास्त्र अद्वैतवादी है। शङ्कर के अद्वैत से इसका भेद यही है कि यह जगत् को मिथ्या न मानकर उसे परमेश्वर का आभास मानता है। इस दर्शन के अनुसार जीव आणव, मायीय और कार्मण नामक मलों[1] से आवृत होने के कारण ही ईश्वर से अपने तादात्म्य को समझ नहीं पाता। अज्ञानवश अपने शुद्ध, स्वतन्त्र और व्यापक स्वरूप को भुलाकर अशुद्ध, अपूर्ण और देह आदि को ही आत्मा मानना आणवमल है। जगत् के समस्त पदार्थ एक ही परमसत्ता के व्यक्त रूप हैं ऐसा न समझ कर उनमें भेद करना, 'मैं अरु मोर तोर तैं' का बखेड़ा खड़ा करना मायिक मल है, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहकार की प्रेरणा से इन्द्रियों की कर्मप्रवृत्ति कार्मण मल है। इन मलों से छुटकारा ही मोक्ष है। नाद (स्पन्द) द्वारा इन मलों की क्रिया प्रवर्तित होती है। नाद शिव की मूलशक्ति का स्त्री तत्त्व है। उसी से शब्द (जगत्) की सृष्टि होती है अतः नाद ही मलों का मूल है। बिन्दु स्थिति या परमेश्वर है। नाद-बिन्दु का सामरस्या मलों से मुक्ति दिला देता है और इस प्रकार स्वातन्त्र्य, सामरस्य या चिदानन्द की उपलब्धि हो जाती है।[2]

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

२५—काश्मीर शैवमत का दूसरा सम्प्रदाय प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ सोमानन्द कृत 'शिवदृष्टि' है। प्रत्यभिज्ञा नाम का आधार और सम्प्रदाय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उत्पलाचार्य का प्रत्यभिज्ञासूत्र है।

१—मलों के विस्तृत विवरण के लिए दे० 'मल' पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी-साहित्य कोश, भाग १, संस्करण २, पृ० ६२१.

२—नाथों और सन्तों की 'नाद-बिन्दु' वाली दुर्बोध्य समस्या की कुञ्जी इसी स्पन्दशास्त्र के पास है जिसकी ओर, जहाँ तक मुझे मालूम है, किसी ने ध्यान नहीं दिया है। नाथों के साहित्य में सन्तों के नाद-बिन्दु का हल खोजा गया है पर नाथों ने इसे कहाँ से लिया यह अभी खोजना बाकी है।

उत्पल से शिष्य अभिनव गुप्त (९११-१०१५ ई०) ने इसपर ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी नामक टीका तंत्रसार, तंत्रालोक, परमार्थसार आदिग्रन्थ लिखकर और इनके शिष्य क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्षिणी तथा प्रत्यभिज्ञाहृदय द्वारा इस दर्शन को पूर्ण प्रतिष्ठा दी है।

२६—स्पन्दशास्त्र की ही भाँति प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में भी शिव को ही एकमात्र सत्य माना गया है। जीव साक्षात् शिव स्वरूप है। जगत् शिव से अभिन्न और उनकी इच्छा शक्ति का स्फुरण मात्र है। जीव का शिव रूप अज्ञान के कारण आवृत रहता है। साधना द्वारा आवरण क्षय कर लेने पर आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का पुनः अभिज्ञान या पहचान होती है।[1]

२७—उक्त शास्त्र के अनुसार जीव परमेश्वर ही है। जिस अज्ञान के कारण जीव का वास्तविक स्वरूप प्रच्छन्न रहता है वह अज्ञान परमेश्वर की स्वतत्र इच्छा शक्ति का ही परिणाम है क्योंकि शिव अपने स्वरूप को तिरोहित या प्रकट करने में पूर्ण समर्थ हैं। जीव में परमेश्वर के गुणों का आभास होने पर भी उनका पूर्ण परामर्श न होने के कारण तदात्म्य के पूर्णानन्द का उल्लास नहीं होता। गुण-श्रवण जन्य प्रीति के उदारण से इसे यों समझा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रिय के गुणों से पूरी तरह परिचित होने तथा अज्ञात रूप से उसके निकट रहने पर भी प्रत्यभिज्ञान या पहचान के बिना प्रिया प्रिय के प्रति उन्मुख या मदन-विह्वल नहीं होती, किन्तु सखी अथवा दूती द्वारा बताए जाने पर कि 'यह वही है' वह प्रेमाकुलता पूर्वक प्रिय को आत्म समर्पण कर देती है, उसी प्रकार स्वयं परमेश्वर होते हुए भी जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु गुरु जब उसका प्रत्यभिज्ञान करा देता है तो आत्मानुभव के इस आनन्द में वह विभोर हो जाता है। कबीर का कहना है कि वह परमप्रिय तो इस शरीर में ही बसता है पर उसका मर्म मालूम न होने के कारण जीव कस्तूरी मृग की तरह बन-बन में दौड़ता हुआ घास ढूढ़ता फिरता है। उस प्रिय के प्रति अचेत यह जीवात्मा अनन्त व्यभिचार करती है। धन्य है वह सतगुरु जो पूरबले भरतार का प्रत्यभिज्ञान करा देता है[2]।

१—सन्तों की 'सुरति' का इससे नाता है। दे० आगे 'सुरति' एव 'निरति'

२—कस्तूरी कुडलि बसै मृग ढूँढै बन माहि।
ऐसे घट घट राम है दुनिया देखै नाहिं॥
सो साईं तन में बसै मरम न जानै तास।
कस्तूरी का मिरिग ज्यों फिरि फिर ढूँढै घास॥

पिउ पहिचानिबे को अंग'[1] में सन्तों ने इसी बात को प्रेम-लपेटे अटपटे बैन में बहुशः दुहराया है।

२८—अभिनवगुप्त आदि के 'ईश्वराद्वय सिद्धान्त'[2] के अनुसार जिस प्रकार सृष्टि के आदि में परमतत्त्व स्वरूपी सदाशिव पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति द्वारा अनेक प्रकार की लीलाओं में प्रवृत्त होकर स्वय आनन्दित हुआ करते हैं उसी प्रकार 'शिवोऽहं' या 'परमेश्वरोऽहं' का अनुभव करने वाला साधक भी भक्ति के लिए द्वैत की कल्पना करके स्वय अपने ही सौन्दर्य से आनन्दित हुआ करता है। भक्ति के लिए कल्पित यह द्वैत भावना अद्वैत से भी कहीं अधिक सुन्दर होती है क्योंकि समरसानन्द के उत्पन्न हो जाने पर आत्मा-परमात्मा का यह द्वैत उसी प्रकार अमृतोपम बन जाता है जिस प्रकार दो अभिन्न हृदय मित्रों या पति-पत्नी का एक प्राण दो शरीर वाला द्वैत होता है। बोधसार का कहना है कि—

"भक्त्यर्थं कल्पित द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।
जात समरसानन्द द्वैतमप्यमृतोपमम्॥
मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्म परमात्मनो।

बोधसागर, पृ० २००.

२९—प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के मत से शुद्ध भक्ति की साधना में द्वैतभाव अपेक्षित होता है जो अज्ञान का परिचायक है। साथ ही उस द्वैत भाव के कारण मोह का उत्पन्न हो जाना भी सम्भव है। परन्तु ज्ञान के बाद जान-बूझ कर कल्पित की गई भक्ति की द्वैतमूलक भावना में इसकी आशका कथमपि नहीं रहती। अद्वैत भाव में द्वैत की कल्पना प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की अपनी

भोरैं भूली खसम कै बहुत किया बिभिचार।
सतगुर आनि बताइया पूरबला भरतार॥

—कबीर ग्रन्थावली, पीउ पहिचानिबे को अग पृ० १६२-६३.

१—'पिउ पहिचानिबे को अग' का स्पष्टतः यही अर्थ है जो प्रत्यभिज्ञा का है और इस अंग के अन्तर्गत सन्तों ने जो कुछ कहा है वह प्रत्यक्षतः प्रत्यभिज्ञा के ईश्वराद्वय सिद्धान्त का लोक सुलभ काव्यात्मक रूप है। कम से-कम मुझे ऐसा ही लगता है।

२—अद्वैत में द्वैत के आरोप सम्बन्धी सिद्धान्त को ईश्वराद्वय सिद्धान्त कहते हैं।

विशिष्टता है। सन्तों ने निर्गुण राम में जो गुणों का काल्पनिक आरोप किया है वह उनके अज्ञान का सूचक नहीं, उनके ज्ञान का परिचायक है।

३०—प्रत्यभिज्ञाशास्त्र या सम्पूर्ण कश्मीरी शैव सम्प्रदाय में ज्ञान और भक्ति की उपलब्धि के लिए कर्म अर्थात् योग-साधना को अनिवार्य माना गया है। इसके मत से योग-साधना के बिना शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष सम्भव नहीं। इस योग-साधना के द्वारा ही मायाजनित आवरणों को दूर करके परमसत्य को अनावृत किया जा सकता है और इस प्रकार ज्ञानभक्ति के उन्मेष स्वरूपी मोक्ष का अधिकारी हुआ जा सकता है। योग-साधना सम्बन्धी प्रस्तुत धारणा को नाथों, और थोड़े सुधरे हुए रूप में, सन्तों ने भी स्वीकार किया है। आँख-कान मूँदे बिना सम्पन्न होनेवाली सहज-समाधि और अहैतुक भक्ति के कट्टर समर्थक सन्तों की योग-साधना सम्बन्धी बातों में विद्वानों ने जो अन्तर्विरोध देखा है और उसका काल्पनिक समाधान करने का प्रयास किया है[1] यह वस्तुतः अन्तर्विरोध नहीं है बल्कि उनकी निर्गुण भक्ति-साधना की पूरी सगति में है। कबीर आदि सन्त प्रारम्भ में (!) योग-साधना के प्रति आस्थाशील रहे हों और बाद में (!) रामानन्द के प्रभाव में आने पर उन्होंने उसे त्याग दिया हो[2] ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः वे अपनी विशिष्ट अर्थ वाली सहज-समाधि की प्राप्ति के लिए योग को आवश्यक समझते थे और चूँकि वह साधनमात्र था अतः सहज-समाधि की उपलब्धि के अनन्तर महत्त्वहीन हो जाता था।

जो हो इतना तो स्पष्ट है कि ईश्वराद्वयवाद की इस योगसाधनाधर्मी

१— "कबीर की रचनाओं में प्रारम्भ में योग की विभिन्न पद्धतियों, साधनाओं और उपलब्धियों का वर्णन जिस हर्ष और उल्लास के साथ किया गया है वह बाद में लुप्त सा होता गया है। ऐसा प्रतीत होता है, योग की इन उपलब्धियों पर कबीर की आस्था उठ-सी गई। कम-से-कम केवल शारीरिक क्रियाओं के द्वारा सहज आनन्द और निर्विकल्प चैतन्य तथा योगसम्प्रदाय का बहुप्रचारित अमरत्व कबीर को सम्भव और साध्य नहीं प्रतीत हुआ होगा।"—डॉ० मोती सिंह, निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० ७२१.

२—आचार्य द्विवेदी ने कबीर के विषय में ऐसा ही अनुमान लगाया है। दे० कबीर, १९५५, पृ० १५१। डॉ० मोतीसिंह का अनुमान उसी की व्याख्या है।

ज्ञान-भक्ति ने निर्गुण वैष्णव भक्तिवाद को प्रभावित किया है और यह प्रभाव प्रायः हठयोगी शैवों के माध्यम से पड़ा है। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अद्वैतभाव की योगाश्रित वैष्णवभक्ति का अच्छा उदाहरण महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय है[१]।

वारकरी सम्प्रदाय

३१—गोरख के **योगपंथ** और चक्रधर के **महानुभावपंथ**[२] की भूमिका पर विकसित होनेवाली वारकरी भक्ति में निर्गुण परमात्मा की अद्वैतवादी भक्ति का जो रूप गृहीत है उसपर काश्मीरी शैवसिद्धान्त का प्रभाव काफी स्पष्ट है। इस भक्तिपथ के सर्वश्रेष्ठ भक्त और प्रचारक ज्ञानेश्वर (१२७५–१२९६ ई०) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **अमृतानुभव** में एक स्थल पर लिखा है कि 'जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता, देवालय एवं भक्त परिवार का निर्माण, खोदकर किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी एकत्व के रहते हुए सर्वथा सम्भव है, इसमें सन्देह नहीं।'[३] तभी तो अन्त में जाकर देव देवत्व में और भक्त भक्ति में विलीन हो जाता है और दोनों का ही अन्त हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनन्त होकर प्रकट होता है। जिस प्रकार गगा समुद्र में भिन्न रूप से कभी मिल नहीं सकती, वैसे ही परमात्मा के साथ तद्रूप हुए बिना भक्ति का होना कभी सभव नहीं।[४]

३२—**अमृतानुभव** के एक पद से पता लगता है कि कश्मीरी शैव सम्प्रदाय के मूलाधार शिवसूत्रों का ज्ञानेश्वर को ज्ञान था और उनका प्रभाव भी उन पर पड़ा था। पद है—'आणि ज्ञानवन्धु ऐसे। शिवसूत्राचे निमिषे। ह्मणितलें

१—कहते हैं महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय ईसा की नवींशती या उससे भी पहले से वर्तमान था। दे० एस० पी० दाण्डेकर, वारकरी सम्प्रदाय चा इतिहास, १९२७।

२—चक्रधर (१२६३ ई०) का महानुभावपथ हिन्दूवर्णाश्रम-व्यवस्था और मूर्तिपूजा के प्रति अनास्थाशील और ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सबके लिए भगवद्भक्ति का समर्थक सम्प्रदाय है।

३—देव देऊळ परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरु।
तैसा भक्ति चा वेव्हारु। कान हवावा॥—४१, ज्ञानसिद्धि प्रकरण ९.

४—दे० लक्ष्मण रामचन्द्र पागारकर, श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (हिन्दी अनुवाद), गीताप्रेस गोरखपुर, सवत् १९९०, पृ० २३१.

असे । सदा शिवे ।[१] पण्ढरपुर में स्थापित बिट्ठल नामक विष्णु या कृष्ण की मूर्ति के सिर पर बनी हुई शिव की मूर्ति, वारकरी भक्तों में हरिहर या शिव एवं विष्णु के प्रति अभेद भाव, और एकादशी व्रत के साथ ही सोमवार को भी वारकरियों का उपवास व्रत[२] ऐसे प्रमाण हैं जिनसे पता चलता है कि उन पर पर्याप्त शैव प्रभाव था। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि महाराष्ट्र की बिट्ठलभक्ति ने वैष्णवों और शैवों के विरोधभाव क मिटाया भी है।[३]

२३—मराठी स्रोतों से पता चलता है कि गोरखनाथ का इन भक्तों की परम्परा से सम्बन्ध था और वे सन् १२०७ ई० मे वहाँ अवस्थित थे। इन्हीं गोरख के शिष्य गहिनी नाथ से ज्ञानेश्वर के बड़े भाई और दीक्षागुरु निवृत्तिनाथ (१२७३–१२९७ ई०) को दीक्षा मिली थी। ज्ञानेश्वर (१२७५–१२९६ ई०) नामदेव दर्जी (१२७०–१३५० ई०), सोपान (१२७७–१२९६ ई०) मुक्ताबाई (१२०९–१२९७ ई०) और चागदेव (मृत्यु १३०५ ई०) में उक्त भक्ति के नवीन योगायोग को स्पष्टतः पाया जा सकता है। इस भक्ति-परम्परा में गोरा कुम्हार (जन्म १२६७ ई०), बिसोबा खेचर (मृत्यु १३०९), सवता या सम्पत माली (मृत्यु १२९५ ई०), चोखा मेळा (मृ० १३३८ ई०,) नरहरि सोनार (मृत्यु १३१३ ई०), सेना नाई (१४४८ ई०), कन्हों पात्र (१४६८ ई०), भानुदास (१४४८-१५१६ ई०), एकनाथ (स०१५९०-१६५६) तथा तुकाराम (स०१६६६-१७०७) आदि नीची जातियों में उत्पन्न भक्तों की एक उज्वल परम्परा है। इस सम्प्रदाय में योग-साधना को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है जो उक्त कश्मीरी शैव सिद्धान्त की एक विशिष्टता है। स्पष्ट है कि विष्णु (विठल) के प्रति आस्थाशील वारकरियों की निर्गुण भक्ति का निर्गुणत्व शैव प्रभाव का ही परिणाम है। उत्तर भारत की निर्गुण-वैष्णव भक्ति के अन्य तथ्य इस बात का समर्थन करते हैं।

१—अमृतानुभव, ३,१६। उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, प्रथम सस्करण, पृ० ८८ से उद्धृत।

२—दे० प० बलदेव उपाध्याय, 'वारकरी, फोरमोस्ट वैष्णव सेक्ट आफ़ महाराष्ट्र', इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, वाल्यूम १५, पृ० २७४, १९२९ ई०।

३—दे० हिस्टरी ऐण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल ५, वाल्यूम पृ० ३५६, १९५७ ई०

३४—इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिए राजस्थान की वैष्णव भक्ति को लिया जा सकता है। राजस्थान में पन्द्रहवीं शताब्दी तक नाथपथियों एवं शाक्तों का प्रभाव रहा है। सम्भवतः जयचन्द की पराजय के बाद जोधपुर में स्थापित होने वाली गाहड़वार (राठौर) राजपूतों की शाखा के साथ वैष्णव भक्ति का प्रवेश राजस्थान में हुआ था और बाद में मेड़ता में उसकी शाखा स्थापित हुई थी। इसी मेड़ता वंश में मीराँ का जन्म हुआ था। मीराँ के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है पर गिरिधर गोपाल की दीवानी मीराँ के भजनों में किसी ऐसे गुरु की चर्चा आती जो नाथपथी साधु जान पड़ते हैं।[1] मीराँ ने अपने को सत रैदास की शिष्या भी बताया है। उनके कुछ पदों में निर्गुणभाव की भक्ति भी मिलती है।[2] योगियों, सतों और वैष्णवों के सम्मिलित प्रभाव का सकेत देनेवाले मीराँ के पदों में गोपीवल्लभ सगुण कृष्ण के साथ साथ ही निर्मोही परदेसी जोगी और निर्गुण-निराकार ब्रह्म के प्रति जो प्रीति और आराध्य-भाव व्यजित-कथित है वह, तथा राजस्थान में रामाननन्द के शिष्य कृष्णदास पयोहारी के प्रभाव में आने वाली, जयपुर के पास की गलता नामक नाथयोगियों की गद्दी पर पयोहारी जी के शिष्य कील्हदास द्वारा योगमार्गी भक्ति का प्रचार, महाराणा कुम्भा (१४३३-१४६८) की रानी झाली द्वारा निर्गुणमार्गी सन्त रैदास की शिष्यता आदि अन्य अनेक बातें हमारी उक्त धारणा को पुष्ट करती हैं।

३५—पंजाब की निर्गुण वैष्णव भक्ति भी हमारे निष्कर्ष का समर्थन करती है। काफी पुराने जमाने से पजाब शैवों, शाक्तों और नाथ योगियों का गढ़ रहा है, फलस्वरूप अवतारवादी सगुण वैष्णव भक्ति का प्रसार वहाँ नहीं हो सका। सरहिन्द में वैष्णवभक्ति का प्रवेश वारकरी सन्त नामदेव के समय (१२७०-१३५० ई०) में ही हो गया था। आगे चलकर गुरुनानक देव (१४६९-१५३८ ई०) के हाथों पन्द्रहवीं शती में यह वैष्णव भक्ति और भी अधिक व्यापक और प्रभावशाली बनी पर नाथपथी प्रभाव की भूमिका के कारण यह निर्गुण ही रही। अस्तु।

३६—चौदहवीं शताब्दी में उत्तर भारत मे भक्ति का प्रचार करने वाले स्वामी रामानन्द, कबीर, रैदास, धन्ना आदि कई प्रमुख सन्तों के गुरु बताए

१—दे० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-साहित्य [उसका उद्भव और विकास], १९५५, पृ०१९८

२—वही, पृ०१९५

जाते हैं। उत्तर भारतीय भक्ति साधना के क्षेत्र में स्वामी रामानन्द को जितना महत्त्व और सम्मान दिया गया है उतना उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी आचार्य को नहीं दिया गया। इनके समसामयिक और परवर्ती ही नहीं, बहुधा पूर्ववर्ती विशिष्ट धर्मप्रचारकों को भी टेढ़े-सीधे, सम्भव-असम्भव तरीकों से इनसे प्रभावित और सम्बद्ध बताने-सिद्धकरने के अनेकशः प्रयास इनकी महिमा के प्रमाण हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "रामानन्द में कुछ-न-कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योगप्रधान भक्ति मार्ग, निर्गुणपथी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्तिमार्ग, तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।"[1] निर्गुण भक्ति को समझने में इन रामानन्द सम्बन्धी जानकारियों से पर्याप्त सहायता मिलेगी यह निश्चित है।

३७—स्वामी रामानन्द (१२९९ १४१० ई०[2]) उत्तर भारत में पैदा हुए थे या दक्षिण भारत में यहाँ यह विवाद[3] प्रसगबाह्य है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है इनकी साम्प्रदायिक परम्परा, गुरु, इनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय, इनकी रचनाएँ तथा इनके शिष्य। और जैसा कि हम अभी देखेंगे ये सभी बातें कतिपय विचित्र निष्कर्षों को ओर ले जाती हैं—उदाहरण के लिए रामानन्द योग साधना के प्रति आस्थाशील थे, सगुण की अपेक्षा निर्गुण-भक्ति के समर्थक थे, उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय रामानुज के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय से खान-पान के कारण नहीं बल्कि गूढ़ सैद्धान्तिक आधारों पर भिन्न है, उनके शिष्यों का प्रबलवर्ग निर्गुण राम के प्रति आस्थाशील था—आदि-आदि।

३८—भविष्य पुराण, अगस्त्यसहिता तथा भक्तमाल के अनुसार रामानन्द के गुरु राघवानन्द थे। नाभादास ने राघवानन्द को भक्तों का मानद और चारो वर्णों तथा आश्रमों के लोगों को भक्तिपथ पर दृढ़ करने वाला कहा है।[4] अनुश्रुति है कि वे योगविद्या में पारगत थे और रामानन्द को

१—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य [उसका उद्भव और विकास] १९५५, पृ० १०८

२—रामानन्द कब पैदा हुए इस पर विवाद है। विस्तृत विवरण के लिए दे० हिन्दी-साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४९६ पर 'रामानन्द' पर डॉ० बदरी नारायण श्रीवास्तव की टिप्पणी।

३—दे० वही।

४—देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानँद।
तस्य राघवानन्द भए भक्तन को मानद॥

ने सही तरीके से महसूस किया है।[1] डॉ० फ़र्कुहर ने जिन अध्यात्म रामायण आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है वे आज भी रामानन्दी सम्प्रदाय में मान्य हैं। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में माने जाने वाले गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' पर अध्यात्मरामायण की कथा, राम के परब्रह्मत्व आदि का व्यापक प्रभाव तो पड़ा ही है फर्कुहर ने रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण को जिस शकर अद्वैतवाद की ओर झुका हुआ पाया था उस झुकाव का असर भी 'मानस' पर स्पष्ट है। म० म० पण्डित गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि गोस्वामी जी ने 'मानस' में अद्वैतमत को ही मान्य समझा है।[2]

४१—रामानुज और रामानन्द के सम्बन्धों की समीक्षा करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'कुछ पडितों का दावा है कि रामानन्द जी और चाहे जिस दृष्टि से रामानुज के मतावलम्बी क्यों न रहे हों तत्त्वदृष्टि से वे उनके मतावलम्बी नहीं ही थे। कुछ दूसरे पण्डित ठीक इनके विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं, वे तत्त्व दृष्टि से तो रामानन्द को रामानुज का अनुयायी मानते हैं पर उपासना पद्धति में एकदम अलग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारी परम्पराएँ रामानन्नद का रामानुज सम्प्रदाय से सम्बन्ध बताती हैं पर साथ ही कुछ ऐसी दलीलें भी उपस्थित को गई हैं जिनसे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि दोनों आचार्यों का सम्बन्ध दूर का ही था। कहा गया है कि रामानद के प्रवर्तित सम्प्रदाय में राम और सीता को जिस प्रकार एकमात्र परमाराध्य माना जाता है उस प्रकार रामानुज के प्रवर्तित श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में नहीं। श्री वैष्णव लोग (विशेषतः लक्ष्मी-नारायण और सामान्यतः) सभी अवतारों की उपासना करते हैं। फिर रामानन्दी लोगों में जो मत्र प्रचलित है वह भी रामानुज सम्प्रदाय से भिन्न है। उनका तिलक भी यद्यपि रामानुजी मत के तिलक से मिलता-जुलता है फिर भी हू-ब हू वही नहीं है, थोड़ा भिन्न है। स्वय रामानन्द जी त्रिदण्डी सयासी नहीं थे, यह भी सिद्ध किया गया है। फिर और भी एक विचारणीय बात है। रामानदी सम्प्रदाय का नाम हू-ब-हू वही नहीं है जो रामानुजीय सम्प्र-

---

१—दे० कबीर, १९५५, पृ० ९७.

२—दे० रामकथा, डॉ० कामिल बुल्के, १९६२, अनुच्छेद १७५ तथा अन्य।

३—तुलसी ग्रन्थावली, खण्ड ३, पृ० ६३–१३०

दाय का। इस प्रकार नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों सम्प्रदायों में सभी महत्त्वपूर्ण बातों में भेद है।'[१]

	रामानुजीय सम्प्रदाय	रामानन्दी सम्प्रदाय
सम्प्रदाय का नाम	श्री वैष्णव सम्प्रदाय	श्री सम्प्रदाय (वैसे अधिक प्रचलित नाम रामावत या रामानंदी है।)
मंत्र	ॐ नमो नारायणाय	ॐ रामाय नमः
भाष्य	श्री भाष्य	आनद भाष्य

आचार्य द्विवेदी ने यह भी बताया है कि 'उनके शिष्यों और सम्प्रदाय में अद्वैत वेदात का पूर्ण समादर है' तथा 'उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वर्णाश्रम-व्यवस्था को नहीं मानते, जीवों का ब्रह्म से भेद नहीं मानते और कितने ही यहाँ तक नहीं मानना चाहते कि दिव्य गुणों से भगवान् का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादक है।[२] न मानने के इस लम्बे तथ्यपूर्ण विवरण के बाद पता नहीं आचार्य द्विवेदी यह कैसे मान जाते हैं कि रामानन्द 'विशिष्टाद्वैतवाद के प्रचारक थे' ![३]

४२—स्पष्ट है कि हर दृष्टि से रामानुज और रामानन्द के सम्प्रदाय और उनके आस्था-विश्वासों की पूर्वापर परम्पराएँ भिन्न हैं। रामानन्द के गुरु राघवानन्द का 'अवधूत वेष', आनद भाष्य का 'आनंद' शब्द, राम तथा शिव के परस्पर पूज्यभाव का व्याख्यान करने वाले 'अध्यात्मरामायण' में आस्था आदि कुछ ऐसे व्यजक सकेत हैं जिनकी यथोचित समीक्षा से सम्भवतः साधारण रूप से स्थापित किया जा सकता है कि राघवानद, रामानद और उनके रामावत सम्प्रदाय का सम्बन्ध शैव आस्था-विश्वास से था और उसी आस्था-विश्वास ने विष्णु के अवतार राम को शिव की समानान्तरता में परमेश्वरता दी थी। प्रत्यभिज्ञादर्शन के परमेश्वर शिव अनत शक्ति सम्पन्न हैं। इन्हीं अनत शक्तियों—तत्रापि चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, और क्रिया नामक पाँच विशिष्ट शक्तियों द्वारा परम शिव अपनी स्वतंत्र इच्छा मात्र से जगत् के रूप

१—दे० कबीर, १९५५ ई०, पृ० ९४–९६। उद्धरण के कोष्टक वाले अश मेरे हैं।

२—वही, पृ० ९८

३—वही,

में परिणमित होते है। 'राम' के प्रसग में हम आगे देखेंगे कि अध्यात्मरामायण के राम प्रत्यभिज्ञा के परम शिव जैसे ही हैं, और यहाँ भी शिवरूपी गुरु से 'यह वही हैं' जैसा प्रत्यभिज्ञान पाकर ही पार्वती समझ पाती हैं कि दशरथसुत राम ही वस्तुतः जगत् के कारणभूत तत्त्व हैं, पर ब्रह्म हैं। वे सगुण-निर्गुण दोनों हैं। वल्कि हैं मूलतः निर्गुण ही, हाँ उपासना सौकर्य के लिए उन्हें सगुणवत् परिकल्पित भी किया जा सकता है। रामानंद के शिष्यों का प्रबल वर्ग राम को निर्गुण ही मानने का पक्षधर था। रामानदी सम्प्रदाय का परवर्ती विकास इसका सूचक है।

४३—रामानंद ने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की थी उसे रामावत सम्प्रदाय कहा जाता है यद्यपि अधिक प्रचलित नाम रामानंदी सम्प्रदाय ही है। रामानंद का नाम संभवतः स्वयं सांप्रदायिक है।[1]

जहाँ तक रामानन्दी सम्प्रदाय के परवर्ती विकास और उनकी शिष्य परम्परा का सवाल है प्रस्तुत प्रसग में उसकी जानकारी भी महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचाती है।

परम्परा से रामानन्द के बारह शिष्य प्रसिद्ध हैं—सेन, कबीर, पीपा, रामादास (रविदास या रैदास), धन्ना,[2] अनन्तानन्द, सुरसुरानद, नरहर्यानद, योगानंद, सुखानंद, भवानद और गालवानद। रहस्यत्रयी के टीका कार ने प्रथम पाँच (या छः[3]) को 'जितेन्द्रया.' कहा है और आखिरी सात को 'नंदनाः' बतलाया

१—रसिक प्रकाश भक्तमाल के टीकाकार श्री जानकी रसिक शरण ने रामानद का गुरू का नाम रामदत्त दिया है। वैष्णव धर्म रत्नाकर में उन्हें राम भारती कहा गया है भविष्य पुराण, अगस्त्य संहिता तथा भक्तमाल उनको रामानन्द कहते हैं। उनके गुरु तथा शिष्यों के साथ तो आनन्द जुड़ा ही हुआ है उनके भाष्य को भी आनन्द भाष्य कहते हैं। हो सकता है यह राघवानद-रामानद के 'आनद' के कारण ऐसा हो, पर यह भी हो सकता है कि आनंदवादी प्रत्यभिज्ञदर्शन ही इस शब्द का मूल बोधव्य हो।

२-३—इन पाँच के साथ रहस्यत्रयी के टीकाकार ने पद्मावती नाम की एक शिष्या को भी गिना है और इस प्रकार कुल तेरह शिष्यों को 'सार्द्धद्वादश' (साढे बारह) कहा है क्योंकि महिला होने के नाते ये पद्मावती को आधा ही गिनते हैं। टीका के मूल पाठ के लिए दे० उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, सं० २००८, पृ० २२४।

है। इनमें से प्रथम पाँच निर्गुण राम में आस्था रखने वाले सिद्ध संत हैं।[१] अंतिम सात में अनंतानंद का सम्प्रदाय के परवर्ती विकास में अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं अनतानद के शिष्य कृष्णदास पयोहारी ने पूर्वी राजस्थान की गल्ता नामक नाथयोगियों की गद्दी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके उसे रामानंदी सम्प्रदाय का केंद्र बना दिया था। रामानुज के सम्प्रदाय में तोताद्रि का जो महत्त्व है रामानद के साम्प्रदाय में वही महत्त्व इस गद्दी को प्राप्त हुआ है और इसे उत्तर तोताद्रि कहा गया है। पयोहारी जी के तीन प्रमुख शिष्य कील्हदास, अग्रदास और टीला ने मध्ययुग में रामानदी सम्प्रदाय की मर्यादा को विस्तार और दृढ़ता दी। इस सम्प्रदाय में योग पर पर्याप्त बल देने वाले कील्हदास थे जिसे द्वारकादास ने और अधिक शक्ति दी थी। रामानदी साधुओं का अवधूत विशेषण इन्हीं, योग पर बल देने वालों को दिया गया है। योगचिन्तामणि, रामरक्षास्तोत्र और सिद्धान्तपटल योग के प्रति आस्थाशील रामानंदियों के प्रमुख ग्रन्थ हैं। नाभादास ने भी कील्ह को अष्टांगयोग का उपासक कहा है। अभी-अभी हमने जिन तीन पुस्तकों का उल्लेख किया है उनमें योग-महिमा और नाद-बिंदु की उपासना का व्याख्यान किया गया है और उन्हें रामानंद द्वारा रचित माना जाता है।

रामानन्दी सम्प्रदाय में माधुर्य-भाव की उपासना करने वालों की भी बलवती परम्परा है[२] जिसे पयोहारी जी के शिष्य अग्रदास ने प्रवर्तित किया था। माधुर्य-भाव की उपासना करने वाले रामानदियों का कहना है कि गुरु राघवानद को रसिक सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा शंकर भगवान् से मिली थी। यह इस बात का काफी व्यंजक संकेत है कि राघवानद और रामानद का सम्बन्ध शैव आस्था-विश्वास से था।

रामानद ने अपने शिष्यों को वैरागी नाम से अभिहित किया था। इन्हीं वैरागियों का एक दल आगे चलकर अग्रदास के प्रभाववश योग-साधना की ओर तत्पर होने पर अवधूत कहलाया था।

सम्प्रदाय में योग और माधुर्यभाव की उपासना करने वालों के साथ ही

१—कबीरादि रामानद के शिष्य हैं या नहीं इस पर पर्याप्त विवाद है। विस्तृत विवरण के लिए दे० उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० २२३-२२७।

२—विस्तृत विवरण के लिए दे० रामानद सम्प्रदाय, ले० डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव।

दिगम्बर, निर्वाण, निर्मोही, खाकी, निरालम्बी, संतोषी, महानिर्वाणी नाम के सात अखाढे भी हैं जिनमें साधुओं की छः श्रेणियाँ मानी जाती हैं—यात्री, छोरा, बदगीदार, मुरीठिया, नागा और अतीत ।[१]

इस प्रकार रहस्यत्रयी के टीकाकार ने 'जितेन्द्रियाः' और 'नदनाः' कह कर रामानद ने जिन सार्द्धद्वादश शिष्यों का उल्लेख किया है वे, तथा उन शिष्यों के शिष्य-प्रशिष्यों ने रामानदी सम्प्रदाय को जो रूप दिया है उसमें स्पष्टतः निर्गुण राम की उपासना स्वीकृत है। मधुरभाव से उपासना करने वाले राम को सगुण रूप के प्रति आस्थाशील होकर भी शैवतान्त्रिकों से प्रभावित हैं। अतः स्पष्ट है कि रामानदी सम्प्रदाय का शैव आस्था-विश्वास से गहरा सम्बध था और उनके शिष्यों का प्रबल वर्ग निर्गुण राम के प्रति आस्था-शील था।

४४—रामानद के गुरु, उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय और उनके शिष्यों द्वारा उस सम्प्रदाय की परवर्ती परिणतियों के विवरण से काफी स्पष्ट हो गया है कि रामानद मूलतः निर्गुणभक्ति के समर्थक थे जिसमें योग को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त था। उनकी रचनाओं की समीक्षा से इस पर थोड़ा और प्रकाश पड़ सकता है।

रामानंद द्वार लिखित बताई जाने वाली जिन अनेक रचनाओं का उल्लेख मिलता है[२] उनमें से गीताभाष्य, उपनिषद् भाष्य, वेदान्त विचार, रामाराधनम्, तथा रामानन्दा देश अप्राप्त हैं। आनन्द भाष्य पर कुछ दिनों पर्याप्त सदेह रहा। आगे चलकर आचार्य द्विवेदी जैसे कतिपय विद्वानों ने इसे रामानद की प्रामाणिक कृति मानने का समर्थन किया[३] और अब प्रायः

१—विस्तृत विवरण के लिए दे० रामानन्द सम्प्रदाय।

२—आनन्दभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य, वेदान्त विचार, रामाराधनम्, रामानन्ददेश, सिद्धात पटल, रामरक्षास्तोत्र, ज्ञानलीला, आत्मबोध, योगचिन्तामणि, श्रीवैष्णव मताब्जभास्कर, श्रीरामार्चनपद्धति, गुरु ग्रन्थ साहब में सकलित दो पद। अध्यात्म रामायण को भी कभी रामानदकृत माना जाता था, पर अब नहीं।

३—देखें हिन्दी-साहित्य, १९५५, पृ० १०३ तथा १०७ आचार्य द्विवेदी ने अब अपनी धारणा बदल दी है। अब वे भी इसे रामानन्दकृत नहीं मानते।

सर्वसम्मत रूप से माना जाने लगा कि यह रामानंदकृत जानकी भाष्य का साराश है और इस प्रकार काफी आधुनिक रचना है।[1]

४५--शेष रचनाओं में सिद्धान्तपटल, रामरक्षास्तोत्र तथा योग-चिन्तामणि नामक पुस्तकें योग के प्रति आस्थाशील रामानन्दी सम्प्रदाय की तपसीशाखा के अवधूतों में पर्याप्त आदृत हैं और जैसा हम पीछे संकेत कर आए हैं कि इनमें योग-महिमा और नाद बिन्दु की उपासना का व्याख्यान किया गया है। इसी प्रकार ज्ञानलीला, ज्ञानतिलक, आत्मबोध तथा अन्य निर्गुणपरक फुटकल पद कबीरपंथ में अधिक प्रचलित हैं जिन्हें नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ नामक पुस्तक मे सग्रहीत किया गया है। इनमें हनुमान की आरती को छोड़ कर शेष सभी पद निर्गुण मत की प्रतिष्ठा करते हैं। गुरुग्रंथ साहब में भी रामानद के दो पद सग्रहीत हैं जिनमें से एक में रामानद ने स्पष्टतः अपने को निर्गुण ब्रह्म का उपासक बताया है।[2]

विद्वानों ने इन रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह किया है।[3] निर्गुण-भक्ति सम्बन्धी शेष रचनाओं को अप्रामाणिक मानने का सबसे बड़ा कारण यह बताया गया है कि 'जिन रचनाओं का सम्प्रदाय में कोई प्रचार न हो और न जिनकी हस्तलिखित पोथियाँ ही साम्प्रदायिक पुस्तकालयों मे प्राप्त हों, उनकी प्रामाणिकता नितान्त ही सदिग्ध होती है।'[4] अप्रामाणिकता सम्बन्धी ये तर्क इस मान्यता के कारण उत्पन्न हुए हैं कि रामानन्द मूलतः विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य थे अतः उनकी वही रचना प्रामाणिक हो सकती है जिसमें विशिष्टाद्वैत-वाद का प्रतिपादन किया गया हो या रामानन्दी सम्प्रदाय की विशिष्टाद्वैती शाखा में उसे सम्मान प्राप्त हो। ऊपर हमने पर्याप्त विस्तार और प्रमाणपुरस्सर ढग से देखा है कि रामानन्द सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैती रूप उसका आदिरूप

१—दे० रामानद, हिंदी साहित्य कोश, भाग २ पृ० ४९७ तथा रामानद सम्प्रदाय।

२—जहाँ जाइए तहँ जल पषान, तू पूरि रहिउ है नभ समान।
वेद पुरान सब देखे जोई, उहाँ तउ जोइए जउ इहा न होई॥
—गुरु ग्रन्थ साहब, रागुबसत, १।

३—डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव, रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिं० सा० कोश, भाग २ पृ० ४९७।

४—दे० 'रामानन्द', हिं० सा० कोश, भाग २, पृ० ४९७. डॉ० श्रीवास्तव का यह मत आचार्य द्विवेदी (हिन्दी-साहित्य, पृ० ११५) के मत पर आधृत है।

नहीं है। साथ ही उनके प्रमुख बारह शिष्यों और उनके शिष्य-प्रशिष्यों में से कोई भी प्रमुख शिष्य विशिष्टाद्वैतवादी नहीं है। बल्कि उनमें से प्रायः सभी निर्गुण राम की उपासना करनेवाले तथा योग के प्रति आस्थाशील हैं। अतः रामानन्द की योग, नाद बिन्दु-साधना, और निर्गुणभक्ति का व्याख्यान करने वाली रचनाओं को अप्रामाणिक मानने का उक्त आधार स्वयं अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। रामानन्द को विशिष्टाद्वैती आचार्य मानने के कारण आचार्य द्विवेदी उक्त रचनाओं को प्रामाणिक नहीं मान सके थे पर उसमें उन्हें कुछ ऐसा जरूर मिला है जिसके आधार पर वे स्वीकारते हैं कि 'इन रचनाओं में रामानन्द के विश्वासों का थोड़ा-बहुत पता तो चल ही जाता है।'[1]

रामानन्द और उनकी पूर्वापर परम्परा को अधिक निकटता से देखने वाले आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने रामानन्द के गुरुग्रन्थ साहब वाले निर्गुण समर्थक पद को स्पष्टतः प्रामाणिक माना है।[2] निर्गुणभक्ति एव योग आदि से सम्बद्ध रचनाओं को अप्रामाणिक मानने का जब तक कोई निश्चित आधार नहीं मिल जाता तब तक उसकी प्रामाणिकता को स्वीकारना ही पड़ेगा और जिन **श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर** तथा **रामार्चनपद्धति** को विद्वानों ने प्रामाणिक मानने का आग्रह किया है[3] उन्हें **आनन्दभाष्य** की तरह विशिष्टाद्वैतवादी रामानन्दियों की परवर्ती अतः अप्रामाणिक रचना मानना पड़ेगा।

जो हो, इतना स्पष्ट है कि रामानन्द निर्गुणभक्ति और योग के प्रति आस्थाशील थे और उत्तरी भारत में पहले से ही स्वरूप ग्रहण करने वाली निर्गुण-भक्ति को राम की दिशा मे मोड़ने का श्रीगणेश उन्हीं के हाथों हुआ था जिसे आगे चलकर कबीर तथा अन्य अनेकशः सन्तों ने बहुश. प्रचारित-प्रसारित किया। सन्तों की भक्ति से योग को अलगा कर देखना इसीलिए ठीक नहीं है। वस्तुतः सन्त योग के प्रति आस्थाशील थे और भक्ति के लिए योग को आवश्यक मानते थे। हाँ, योग उनका साध्य न होकर उनकी भक्ति का साधन था। उन्मनी तथा अन्य पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण हमें ऐसा ही मानने का संगत आधार देगा।

१—हिन्दी-साहित्य [उसका उद्भव और विकास], १९५५, पृ० १०९।

२—उत्तरी भारत की सत-परम्परा, सं० २००८, पृ० २२८।

३—हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग २, सं० २०२०, पृ० ४९७।

३

सन्तों की उन्मनी

४६—सन्त ने जिस उन्मनी शब्द तथा उसके उनमनि, उनमनी, उनमुनि, उनमुनी, उनमन, उनमन्न, उन्मुनि, उनमुना, उनमाना आदि रूपों एव उन्मनी-भाव और उनमनि रहनी जैसी स्थितियों का अपनी साखियों, सबदियों और बानियों में बहुधा: प्रयोग, उल्लेख और व्याख्यान किया है वह मूलत: नाथपंथी योगियों के 'मनोन्मनी' से सम्बद्ध है। सन्त साहित्य के अध्येताओं के लिये यह शब्द, उसके अनेक शब्दरूप, और उनके द्वारा संकेतित भाव, स्थिति तथा अर्थ पर्याप्त दुरूहता अत. मतभेद के कारण रहे हैं और आज भी हैं। संस्कृत के 'उन्मनस्' से लेकर फारसी के 'ऊमनम्'[1] तक की दौड़ लगाकर विद्वानों ने इस शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उस परम्परा मे एक प्रयास और सही।

१—श्री सगमलाल पाण्डेय ने 'कबीर की उन्मनी' पर विचार करते हुए उन्मनी को फारसी के 'ऊमनम्' का रूपान्तर बताया है जिसे बस 'विचित्र' कहा जा सकता है। दे० हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष ११, अंक ३, पृ० १–५।

(१) उन्मनी : शब्द

४७—उन्मनी या मनोन्मनी शब्द संस्कृत के 'उन्मनस्' से व्युत्पन्न हो सकता है। उन्मनस् 'उद्' और 'मनस्' के योग से बनता है। 'उद्' अन्य शब्दों से संयुक्त होने पर तीन भिन्न प्रकार के अर्थ देता है—(१) ऊपर–जैसे उत्तम, उत्कर्ष, उत्तान, उदात्त, उत्ताल, उत्साह आदि, (२) दूर—जैसे उद्गार, उद्भ्रान्त, उद्वाह, उदासीन, उद्धार आदि, तथा (३) मे से—जैसे उत्थित, उत्पन्न, उद्भव, उद्गत, उद्भिद् आदि। इस प्रकार उन्मनस् से उन्मन् और फिर उन्मनी बन सकता है।

इस दृष्टि से उन्मनी या उन्मन् शब्द का विचार करने पर स्पष्ट होगा कि यह मूलतः प्रथम अर्थात् 'ऊपर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कोश ग्रन्थों मे उन्मनी शब्द का जो अर्थ दिया गया मिलता है वह इसका समर्थन करेगा।

४८—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'उन्मन्' का प्रयोग 'उत्कण्ठित मन' के अर्थ में किया है—'उत्क उन्मनाः[1]'। अमरकोश में 'उन्मना' को उत्क का पर्याय कहा गया है। इसकी टीका में 'उद्गत मनोऽस्योत्कः' के रूप में इस शब्द की व्याख्या मिलती है। भरतकोश[2] में 'भावविवेक' उद्धृत करते हुए उन्मनाः का अर्थ दिया गया है—'अधोगतमनः पुंसो तर्पणोन्नीयते यदा। नायते विषयेभ्यश्च तदा सावुन्मना भवेत्[3] ॥ 'शब्दार्थ चिन्तामणि' मे दिया गया अर्थ

१—अष्टाध्यायी ५, २,८०।

२—अमरकोश ३, १, ८ दुर्मना विमना अन्तर्मना, स्यादुत्क मनाः।
दक्षिणे सरलो दारो, सकलो दातृभोक्तरि ॥

'अन्तर्गत मनोऽस्यान्तर्मनाः। उद्गत मनोऽस्योत्कः' येनान्तर्जल चारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजित इति धर्ममात्रेऽपि, उत्क उन्मना इति (५, २, ८०)
१८८०

साधुः। सोत्कण्ठश्च। (दक्षिण ई०) दक्षते, सरति, उदियर्ति च। शोभना कलाऽस्य सुकलः, दाता भोक्ता च यः ॥ ८ ॥

नामलिंगानुशासनम्, स० डॉ० हरदत्तशर्मा, पूना, पृ० २३७।

३—भरतकोश पृ० ८०।

भी ऐसा ही है।[1] 'कल्पकोश'[2] तथा 'शब्द कल्पद्रुम'[3] में दिये गये उन्मनस् का अर्थ स्पष्टतः अमरकोश पर आधृत है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्मन्, उन्मनि या उन्मनी शब्द मूलतः संस्कृत के 'उन्मनस्' शब्द से व्युत्पन्न है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'उन्मनस्' शब्द चित्त की ऊर्ध्वगति के लिये बन सकता है परन्तु (नाथपंथी योगियों के साहित्य में बहुशः प्रयुक्त-व्याख्यात) 'मनोन्मनी' शब्द कैसे बनेगा यह एक समस्या ही है। जान पड़ता है नाथ पंथी साधकों ने लोकभाषा से इस शब्द को ग्रहण किया था और उसे संस्कृत में चला दिया।[4]

४९—जहाँ तक उन्मनस शब्द के साहित्य में प्रयुक्त होने का सवाल है, पाणिनि (३५० ई० पू०) द्वारा उसका प्रयोग निर्भ्रान्त सूचक है कि उनके पूर्ववर्ती तथा समकालीन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग काफी परिचित था।

संस्कृत साहित्य में उन्मनस् शब्द का प्रयोग मन की उत्क्षिप्त, उत्कण्ठित, व्याकुल एवं क्षुब्ध अवस्था के अर्थ में बहुत बार हुआ है। कालिदास (ईस्वी सन् की प्रथम शती) ने रघुवंश में इसे क्षुब्ध, उत्कण्ठित या पर्युत्सुक के अर्थ में प्रयुक्त किया है—'वामनस्याश्रम पदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरूपेयिवान्। उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥[5] किरातार्जुनीय (५५० ई० के लगभग) में उद्विग्न के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—'व्यपाहितो लोचनतोमुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः। पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नत पीवरस्तनी ॥[6] 'अर्थात्' ऊँचे, कठोर, और विशाल स्तनों वाली एक देवांगना ने मुख की भाप द्वारा आँखों से पुष्पपराग निकालने में व्यर्थ ही असमर्थ होने वाले अपने प्रिय के वक्षस्थल पर उद्विग्न होकर अपने स्तनों से प्रहार कर दिया। 'ईस्वी सन् की ७ वीं शताब्दी के

१—शब्दार्थ चिन्तामणि (प्रथम भाग) ब्रह्मावधूत श्री सुखानन्द नाथेन विनिर्मितः, पृ० ७३१।

२—'हर्षमाणे विकुर्वाणः प्रमना हृष्टमानस'। दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यादुत्क उन्मना" ॥ 'पृ० २१५, श्लोक १४।

३—शब्द कल्पद्रुम, स्यार राजा राधाकान्तदेव बहादुरेण विरचितः।

४—'सन्तों द्वारा प्रयुक्त शब्दों में नए अर्थदान की क्षमता', भारतीय-साहित्य आगरा, वर्ष ५, अंक १, पृ० ९।

५—रघुवंश ११, २२।

६—किरातार्जुनीय, ८, १९।

उत्तरार्द्ध में लिखित श्रीहर्ष के 'शिशुपालवध' में भी उक्त अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। पर उन्मनी शब्द का प्रयोग इनमें से कहीं भी नहीं मिलता। मुझे ईसा की ७ वीं शती के पूर्व इसका प्रयोग नहीं मिला।

५०—न्यासकार जितेन्द्रबुद्धि (७०० ई० के लगभग) ने पाणिनि पर लिखित 'काशिकावृत्ति' में 'उन्मनी' शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवतः यह प्रयोग सबसे पुराना है। पाणिनि के सूत्र 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसा लोपश्च'[1] की टीका करते हुए जितेन्द्र बुद्धि ने लिखा है 'अरु. प्रभृतीनामन्तस्य लोपो भवति च्विश्च प्रत्ययः। सर्वं विशेषण सम्बन्धात् पूर्वेणेव प्रत्ययः सिद्धो लोपमात्रार्थ आरम्भः। अनरुररु संपद्यते त करोति, अरूकरोति। अरूभवति। अरूस्यात्। मनस्-उन्मनी करोति। उन्मनी भवति। उन्मनी स्यात्। चक्षुस् करोति। उच्चक्षूभवति। उच्चक्षू स्यात्। चेतस्—विचेती भवति। विचेती स्यात्।' —आदि।

संस्कृत साहित्य में उन्मनी का दूसरा (?) प्रयोग मुझे प्रबोध चद्रोदय में मिला है[2]—'भिक्षु. (प्रहस्य) अयमनभ्यासातिशय पीतया मदिरायादूरमुन्मनीकृत-स्तपस्वी तत्क्रियतामस्य मदापनयनम्।' नाण्डिल्य गोप ने इस अंश की टीका करते हुए उन्मनी का अर्थ किया है—'उद्गत मनोयस्योन्मना.। 'उन्मनी शब्द के ये प्रयोग उसके सामान्य अर्थ में हुए हैं। आगे चलकर नाथ सिद्धों के साहित्य में उन्मनी या मनोन्मनी शब्द जिन विशेष पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है उक्त प्रयोगों में उस प्रकार की पारिभाषिकता का संकेत नहीं मिलता पर आगे के पारिभाषिक प्रयोग उक्त अर्थों के आधार पर ही स्थित हैं यह स्पष्ट है।

५१—जहाँ तक उन्मनी या मनोन्मनी शब्द के पारिभाषिक प्रयोग का प्रश्न है आदि सिद्ध[3] सरहपाद की उपलब्ध रचनाओं में मुझे यह कहीं नहीं मिला। निश्चित है कि सरह के समय (आठवीं शती) तक यह शब्द साम्प्रदायिक शब्दावली में पारिभाषिक स्थिति नहीं पा सका था, क्योंकि आगे चलकर इसे जिस पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है उस तरह का अर्थ देनेवाली बातें सरह ने बार-बार कही हैं पर उसके लिये उन्मनी जैसे संक्षिप्त शब्द की जगह

१—काशिका, ५, ४, ५१।

२—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ३, श्लोक २२, २३ के बीच पृ० १२५।

३—डॉ० धर्मवीर भारती ने सरहपाद को ही आदि सिद्ध मानने का तर्कसंगत समर्थन किया है। दे० सिद्धसाहित्य, १९५५, पृ० ४७।

उन्होंने पूरे विवरणात्मक बिम्बों (डिस्क्रिप्टिव इमेजरी) का प्रयोग किया है। अभी हम देखेंगे कि उन्मनी या मनोन्मनी का मनस्थैर्य के अर्थ में बहुधा प्रयोग किया गया है। हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि 'यो मनः सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी'।[1] इसी प्रकार नादबिन्दूपनिषत् कहता है 'काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्। न जानाति स शीतोष्ण न दुःख न सुख तथा'[2] आदि। एक दोहे में सरह पाद ने मन की ठीक इसी अचचल स्थिति का उल्लेख किया है और उन्मनी जैसे एक शब्द में जिसे अधिक सक्षम ढग से कहा जा सकता था उसे पजरस्थ पक्षी के लम्बे विवरणात्मक बिम्ब के सहारे व्यक्त किया है। दोहा है—

पजरे जिम पगि पक्खिणिच्चचल। तिममण राउ लगइ सुटु वचल।
सो जइ लइअइ अइन्त बिरालें। चलइ न बुल्लइ रिठ्अइ निरालें॥[3]

अर्थात् 'जिस प्रकार पिंजड़े मे पड़ा हुआ पक्षी अचंचल होकर रहता है क्योंकि वह जानता है कि पिंजड़े में बिल्ली का प्रवेश सभव नहीं है, उसी प्रकार मनराज भी अचिंतरूपी बिडाल से पूरी तरह बचकर निश्चचल अवस्था में लगा रहता है। पिंजड़े का पक्षी बिल्ली से पकड़े जाने पर कूदता, फड़फड़ाता और चिल्लाता है पर अचचल अवस्था में स्थित मनराज अगर अचिंतरूपी बिल्ले द्वारा पकड़ा भी जाय तो भी न वह हिलता-डोलता है और न बोलता ही है। वह अपनी निराली स्थिति में दृढ़भाव से स्थिर रहता है।' सरह ने मन की अचञ्चलता से सम्बद्ध अनेक दोहे लिखे हैं पर कहीं भी उन्होंने उन्मनी शब्द का प्रयोग नहीं किया है। नाथ सिद्धों के सिद्धान्तग्रन्थों में इस शब्द के अनेक पारिभाषिक प्रयोग एव विवरण उपलब्ध होते हैं पर उनके आधार पर यह बता सकना कठिन है कि इस शब्द को पारिभाषिक अर्थ-गरिमा कब मिली।

हठयोग में उन्मनी

५२—हठयोग की साधना में मनोन्मनी या उन्मनी का पर्याप्त महत्त्व स्पष्ट है क्योंकि इसके सिद्धान्तग्रन्थों में मनोन्मनी की विस्तृत व्याख्याएँ और

१—हठयोग प्रदीपिका, २, ४२।

२—नादबिन्दूपनिषद्, ५३।

३—दोहाकोश—स० महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन, दोहा १२३।

अतिशयोक्तिपूर्ण माहात्म्य तो उपलब्ध होते ही हैं; अर्थ की दृष्टि से भी यह काफी विस्तृत क्षेत्र को अधिकृत करती है।

अपने सर्वाधिक स्वीकृत अर्थ में यह शब्द मन की स्थिरता का वाचक है। हठयोग प्रदीपिका में उन्मनी को मन की स्थिरता का अर्थ देने वाली समाधि, अमरत्व, लयतत्व, शून्याशून्य, परमपद, राजयोग, अद्वैत, अमनस्क, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या आदि का समानार्थी बताया गया है[1] और कहा गया है कि इड़ा और पिंगला के मार्ग से प्रवाहित होने वाला प्राणवायु जब प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध होकर, मध्यमार्ग या सुषुम्नामार्ग से प्रवाहित होने लगता है तो चाचल्यधर्मी मन स्थिर हो जाता है। मन की यह स्थिर अचचल स्थिति ही मनोन्मनी है।[2] चूँकि सम्पूर्ण परिदृश्यमान चराचर जगत् मन की ही सृष्टि है अत: मन: स्थैर्य रूपी उन्मनी भाव को प्राप्त कर लेने पर सारा द्वैत मिट जाता है और अद्वैत की उपलब्धि हो जाती है।[3] इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर समस्त शब्दाक्षरमयी व्यक्त सृष्टि क्षीण हो जाती है और शब्दातीत परमपद ही अवशिष्ट रह जाता है। नाद के निरन्तर अभ्यास से सभी वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं और मन निरजन मे विलीन हो जाता है। फिर तो सहस्रकोटि नाद, शतकोटि विन्दु सभी ब्रह्मप्रणवनाद में विलीन हो जाते हैं और ध्रुव उन्मनी अवस्था को प्राप्त हुए योगी की सभी अवस्थाएँ, सारी चिन्ताएँ समाप्त हो जाती हैं, वह मृतवत् रहकर समस्त प्रपंचों से मुक्त हो जाता है।[4]

१—राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्व लयस्तत्व शून्याशून्य परंपदम्॥
अमनस्कं तथाऽद्वैत निरालम्ब निरजन।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येक वाचकाः॥ ४, ३-४॥

२—मारुते मध्य सचारे मनः स्थैर्य प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभाव सेवावस्था मनोन्मनी॥ वही, ४, ४२।

३—मनोदृश्यमिद सर्वं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्युन्मनी भावाद् द्वैत नैवोपलभ्यते॥ वही, ४, ६०।

४—सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्द परमं पदम्।
सदानादानुसंधानात्सक्षीणा वासना तु या॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न सशयः।
नादकोटि सहस्राणि विन्दु कोटि शतानि च॥

योग शिखोपनिषद् के छठें अध्याय में मन पर विचार करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि मन की निश्चलता ही मोक्ष है। चित्त ही अर्थों का कारण है, इसी के कारण जगत्रय की स्थिति है और इस चित्त के क्षीण हो जाने पर समस्त ससार क्षीण पड़ जाता है। मन में ही कर्म उत्पन्न होते हैं, मन में ही पातक लिप्त होते हैं और जब यह मन 'उन्मनीभाव' को प्राप्त कर लेता है तब पाप-पुण्य कुछ नहीं रहता। मन से मन को देखने की इस वृत्तिशून्य अवस्था को प्राप्त कर लेने पर सुदुर्लभ परब्रह्म साक्षात् दिख जाता है, योगी मुक्त हो जाता है और सदैव उस उन्मनी के अन्त में स्थित परमब्रह्म को स्मरण करता रहता है। सदा योगनिष्ठ रहने वाले योगी को, इस प्रकार, दश प्रत्यय दिखाई पड़ जाते हैं और उन्मनी भाव द्वारा साक्षात्कृत इन प्रत्ययों[1] को देख लेने पर वह 'योगीश्वर' हो जाता है।[2]

सर्वे तत्र लय यान्ति ब्रह्म प्रणवनादके।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सर्वचिन्ता विवर्जित ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र सशय.।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थयाध्रुवम् ॥

—नादबिन्दू पनिषद् ४१-५२, ईशाद्यष्टो तरशतोपनिषदः, सन् १९३८, पृ० २२६।

१—प्रत्यय के लिए दे० परिशिष्ट १।

२—चित्ते चलति ससारो निश्चलं मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चित्त स्थिरी कुर्यात्प्रज्ञया परया विधे ॥
चित कारणयर्थाना तस्मिन्सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीण तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥
मनोह गगनाकार मनोह सर्वतोमुखम्।
मनोह सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥
मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यन्ति पातकम्।
मनश्चे दुन्मनीभूयान्न पुण्य न च पातकम् ॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्य यदाभवेत्।
तत. पर परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥
मनसामन आलोक्य मुक्तोभवति योगवित्।
मनसामन आलोक्य उन्मन्यन्त सदास्मरेत् ॥

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में काम-संकल्पों से युक्त अशुद्ध मन तथा काम विवर्जित शुद्ध मन का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि वह अपने मन को निर्विषय बनाने का प्रयत्न करे। विषयों से निरस्त और हृदय में पूर्णतया सन्निरुद्ध हो जाने पर यह मन उन्मनी भाव को प्राप्त कर लेता है। यह उन्मनीभाव ही परमपद है।[1] इसी बात को पैंगलोपनिषद् में यों कहा गया है कि ममत्व जीवों को बन्धन मे डालता और निर्ममत्व उन्हें मोक्ष देता है। मन का यह निर्ममत्व उन्मनीभाव में प्राप्य है क्योंकि इस भाव मे द्वैत नहीं रह जाता। योगी ज्योंही उन्मनी भाव को प्राप्त कर लेता है वह परमपद को पा लेता है और फिर उन्मनी भावस्थ मन जहाँ जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ इस परमपद को ही प्राप्त करता है।[2]

सम्मोहन तन्त्र में मनः स्थैर्य की उस दशा को उन्मनी कहा गया है जिसे

मनसामन आलोक्य योगनिष्ठः सदाभवेत् ।
मनसामन आलोक्य दृश्यन्ते प्रत्यया दश ॥
यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरोभवेत् ॥— योग शिखोपनिषत् ६, ५८, ६५ ।
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः पृ० ३७३ ।

१—ॐ मनोहि द्विविध प्रोक्त शुद्ध चाशुद्धमेव च ।
अशुद्ध कामसकल्प शुद्ध काम विवर्जितम् ॥
मन एव मनुष्याणा कारणं बन्ध मोक्षयो. ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ॥
यतो निर्विष यस्यास्य मनसो मुक्ति रिष्यते ।
तस्मान्निर्विषयनित्य मनःकार्यं मुमुक्षुणा ॥
निरस्त विषया सग सन्निरुद्धं मनोहृदि ।
यदा यात्युन्मनीभाव तथा तत्परमं पदम् ॥
१, ४ वही पृ० ११९ ।

२—ममेतिबध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।
मनसोह्युन्मनीभावे द्वैत नैवोपलभ्यते ॥
यदा यात्युन्मनी भावस्तदातत्परमपदम् ।
यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र परपदम् ॥
४, २०–२१, वही, पृ० ३३७ ।

एक बार प्राप्त कर लेने पर फिर लौटना नहीं होता।[1] यहाँ प्रयुक्त 'यद्गत्वा न निवर्तते' को कई रूपों में समझा जा सकता है—जहाँ जाकर मन फिर कभी चंचल नहीं होता, वह फिर विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होता, वह गीतोक्त उस परमधाम में पहुँच जाता है जो परमपद है और जहाँ जाकर आवागमन का चक्र रुक जाता है। उन्मनी को बहुत बार परमपद कहा भी गया है। आगे हम देखेंगे कि कबीर इसी अर्थ में उन्मनी का प्रयोग करते हैं।

षट्चक्र निरूपण के ३९ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए सम्मोहनतंत्र के उक्त अंश को उद्धृत किया गया है और उसकी व्याख्या करते हुए उन्मनी का लक्षण बताया गया है—'यत्रगत्वातु मनसो मनस्त्वं नैव विद्यते। उन्मनी सा समाख्याता सर्वतंत्रेषु गोपिता।' अर्थात् जहाँ पहुँचकर मन में विषयों के प्रति कोई ललक (मनस्त्व) नहीं रह जाती, मन की उस अवस्था को तंत्रों मे उन्मनी कहा जाता है।[2] नादविन्दूपनिषद में कहा गया है कि ब्रह्म नादातीत है। जहाँ शब्द नहीं है वहीं निश्शब्द ब्रह्म है। यह निश्शब्द ब्रह्म ही मनोन्मनी है क्योंकि जहाँ तक नाद है वहाँ तक मन है, जहाँ नाद का अन्त हो जाता है वहीं मनोन्मनी है। यह मनोन्मनी ही निश्शब्द परमपद है। वहाँ पहुँचकर मन निरंजन में विलीन हो जाता है। सहस्रकोटि नाद और शत कोटि बिन्दु भी वहाँ लय हो जाते हैं।[3]

५२—उपनिषदों में जिस प्रकार आत्मा को ही एक मात्र द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य कहा है उसी तरह योगियों ने ओंकार को एकमात्र द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य माना है। योग उपनिषदों में उन्मनी तथा मनोन्मनी को प्रणव से घनेभाव से सम्बद्ध माना गया है। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में प्रणव की सोलह कलाओं का उल्लेख करते हुए उसकी दसवीं कला को उन्मनी और ग्यारहवीं को मनोन्मनी बताया गया है।[4] ये

१—दे० वुडरफ़ लिखित 'सर्पेण्ट पावर' में संग्रहीत 'षट्चक्र निरूपण' पृ० ५९ पर उद्धृत उक्त अंश।

२—वही, पृ० ६१।

३—नादबिन्दूपनिषद्, ४७, ५०।

४—'षोडशमात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्तृतीयार्द्धमात्रा चतुर्थी नादः पंचमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी

कलाएँ क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिशील तत्वों की संकेतिका हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि उन्मनी की अपेक्षा मनोन्मनी को सूक्ष्म बताया गया है जबकि अन्य स्थानों पर इन दोनों को समानार्थी कहा-माना गया है। ठीक इसी प्रकार परमहंस परिव्राजकोपनिषद् में ब्रह्मप्रणव की सोलह मात्राओं में उन्मनी और मनोन्मनी की गणना की गई हैं। इन मात्राओं को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नामक चार अवस्थाओं में बाँटा गया है और एक-एक अवस्था मे चार-चार मात्राएँ मानी गई है। उन्मनी मे सुषुप्तप्राज्ञ और मनोन्मनी में सुषुप्ततुरीय नामक मात्राओं को अधिष्ठित बताया गया है।[1] यहाँ भी उन्मनी तथा मनोन्मनी दो हैं। षट्चक्रनिरूपण के ३२ वें श्लोक की टीका में प्रणव के जिन सोलह आधारों का उल्लेख किया गया है उनमें उन्मनी तेरहवाँ आधार बताई गई है।[2] सिद्ध सिद्धान्त-सग्रह में शून्य के पाँच गुणों में उन्मनी को भी गिनाया गया है।[3]

५४—सिद्धान्त ग्रन्थों में उन्मनी की स्थिति के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा गया है। तंत्रों में आज्ञाचक्र एव सहस्रार के बीच स्थित शक्तियों में सबसे ऊपर वाली शक्ति का नाम उन्मनी बताया गया है और सबसे नीचे स्थित शक्ति का नाम बिन्दु। इन सभी शक्तियों को 'वर्णावलीरूपा विलोम शक्ति' कहा जाता है। सम्मोहन तंत्र में नीचे से शुरू करके ऊपर तक इन शक्तियों का क्रम बताते हुए कहा गया है कि बिन्दु, बोधिनी, नाद, महानाद या नादान्त, व्यापिका, समनी और उन्मनी। इनमें से बिन्दु शक्ति ईश्वरतत्त्व में अवस्थित मानी जाती है, बोधिनी, नाद और नादान्त सदाख्यातत्व में, व्यापिका एवं समनी शक्ति तत्व में, और उन्मनी शिवतत्व में। भूतशुद्धि में उन्मनी को समनी

द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पचदशी परा षोडशी पुनश्चतुः षष्टिमात्रा

—नारदपरिव्राजकोपनिषद् ८, १, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद, पृ० १५८।

१—'ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयचतुष्टयगोचरः। ते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः अकारे जाग्रद्विश्व उकारेजाग्रतैजसो मकारे जाग्रत-त्प्राज्ञ, कलातीते स्वप्न तुरीयः शान्तो सुषुप्त विश्वः शान्त्यतीते सुषुप्त तैजस उन्मन्या सुषुप्त प्राज्ञो मनोन्मन्या सुषुप्त तुरीये तुर्या आदि ॥ वही, पृ० ३८२।

२—दे० सर्पेण्टपावर में संग्रहीत 'षट्चक्रनिरूपण' पृ० ५९।

३—नीलता पूर्णता मूर्छा उन्मनी लयतेत्यमी।
शून्ये पचगुणाः प्रोक्ताः सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥

के ऊपर स्थित बताया गया है।[1] 'ककालमालिनी तत्र' का कहना है कि सहस्रार की कर्णिका में, चन्द्रमण्डल के बीच, सभी सकल्पों से मुक्त और भवबन्धन को काटने वाली जो सत्रहवीं कला है उसी का नाम उन्मनी है।[2] 'षट्चक्रनिरूपण' के ४९ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री विश्वनाथ ने अपनी 'षट्चक्र वृत्ति,' मे भी उन्मनी को समना (या समानी) के ऊपर स्थित बताया है।[3] उनका कहना है कि समना मन से संयुक्त होने के कारण ही स+मना है और उन्मनी वाणी तथा मन से अतीत होने के कारण उन्मनी।[4] स्वच्छन्द सग्रह से एक वचन[5] उद्धृत करके उन्होंने बताया है कि शक्ति मे स्थित 'नाद' की गति समनी तक ही है वह उन्मनी तक नहीं जा सकता। उन्मनी में काल और कला के अश का मान भी नहीं होता। 'षट्चक्र निरूपण' ४९ मे प्रयुक्त 'शिवपदममल,' को स्पष्ट करते हुए उन्होंने परमशिव की सत्त्वादिगुणमुक्त निवासभूमि को उन्मनी के बाद या ऊपर स्थित बताया है। अपनी व्याख्या के समर्थन में उन्होंने 'टीकाकारधृत तत्र' तथा 'स्वच्छन्द सग्रह' के दो वचन भी उद्धृत किये हैं जिनमें से पहले परशिव को उन्मनी के अत में स्थित कहा गया है[6], और दूसरे मे उन्मनी को तत्वातीत तथा मन और वाणी से अगोचर बताया गया है।[7]

५५—'सम्मोहन तत्र' में बिन्दु से लेकर उन्मनी तक के परस्पर उत्कर्षक्रम का जो वर्णन किया गया है उस पर टीका करते हुए श्री पूर्णानन्द स्वामी ने उन्मनी के दो रूपों की चर्चा की है। उनका कहना है कि जहाँ पहुँच कर मन में विषयों के प्रति कोई ललक (मनस्त्व) नहीं रह जाता मन की उस अवस्था को उन्मनी कहते

१—ततोहि व्यापिका शक्तिर्यामा जीति विदुर्जना. ।
समनीमूर्ध्वतस्तस्या उन्मनी तु तदूर्ध्वतः ॥ —भूतशुद्धि ।

२—सहस्रारकर्णिकायाचन्द्रमण्डलमध्यगा । सर्वसकल्प रहिता कला सप्तदशी भवेत् ॥
उन्मनी नाम तस्याहि भवपाशनिकृन्तनी ॥ —ककालमालिनी तत्र ।

३—दे० सर्पेण्ट पावर में सग्रहीत 'षट्चक्रवृत्ति,' पृ० १२२ ।

४—'मनः सहितत्वात् समाना ।' यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह 'इति श्रुत्या वाङ्मनोतीत अगोचरत्वादुन्मना ।' —वही ।

५—'शक्ति मध्यगतो नाद समनान्तं प्रसर्पति ।' —स्वच्छन्द सग्रह ।

६—'उन्मन्यन्ते पर. शिवः ।'—टीकाकारधृततत्र ।

७—'तत्वातीतं वरारोहे वाङ्मनोनैव गोचरम् ।—स्वच्छन्द सग्रह ।

हैं। यह दो प्रकार की होती है 'सहस्राराधारा, तथा 'निर्वाण कलारूपा'[1] यह निर्वाण कला रूपा उन्मन्मनी बिन्दु से लेकर उन्मनी तक के सोलह आधारों से ऊपर स्थित सत्रहवीं कला है और जैसा हम ककाल्मालिनी तन्त्र को उद्धृत करके पीछे कह आए हैं यह सहस्रार की कर्णिका में, चन्द्रमण्डल के बीच स्थित, सभी सकल्पों से रिक्त, भवपाश को काट देने वाली है। इस स्थल को छोड़, शेष कहीं मुझे उन्मनी के प्रकारों का उल्लेख नहीं मिला। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि उन्मनी तथा मनोन्मनी को प्रायः समानार्थक या एक ही माना गया है। जहाँ मनोन्मनी को उन्मनी से ऊपर स्थित बताया गया है वहाँ ये स्पष्टतः दो हैं। इन्हें उन्मनी के दो प्रकार माना जा सकता है।

५६—उन्मनी अवस्था को प्राप्त करने की विधि, उसे प्राप्त करने पर शरीर और मन की स्थिति तथा प्राप्त करने के महत्व को लेकर काफी विस्तार से चर्चाएँ की गई हैं।

जहाँ तक उन्मनी या मनोन्मनी अवस्था की उपलब्धि का प्रश्न है इसके लिये प्राणायाम एव अन्य हठयोगी विधियों से सम्पन्न होने वाली खेचरी तथा तारक नामकी मुद्राओं का उल्लेख सिद्धान्त ग्रन्थों में मिलता है। घेरण्ड सहिता ५, ५६ में प्राणायाम को ही खेचरत्व, रोगनाश, शक्ति के उद्बोध, एवं मनोन्मनी का कारण बताया गया है।[2] हठयोग प्रदीपिका में इसके लिये तारक मुद्रा के आचरण का निर्देश किया गया है। और इस मुद्रा का महत्व बताते हुए कहा गया है सभी इस मुद्रा के अज्ञान से भ्रान्त हैं। कोई आगम-जाल में फँसा है तो कोई निगम समूह में। कुछ लोग हैं जो तर्क में ही मुग्ध हैं। तारक को तो कोई जानता ही नहीं। स्थिरमन से अर्द्धनिमीलित नेत्रों द्वारा दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर करके निस्पन्दभाव से आचारित होने पर यह तारक मुद्रा इड़ा एव पिंगला या सूर्य और चन्द्र[3] को लय कर देती है। अधिक क्या

१—'ततश्च मनोवृत्ति मद्विषयालवनचेष्टाकालीन विषयालम्बन सामान्या-भावसपादन तत्वमुन्मनीत्वमिति। साच द्विविधा, सहस्राराधारा, निर्वाण कलारूपा एतत्स्थानस्थितावर्णावली रूपा'।

—सर्पेण्टपावर, षट्चक्रनिरूपण, पृ० ६१।

२—प्राणयामात् खेचरत्व प्रणायामाद्रोगनाशनम्।
प्राणायामाद्बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी ॥

तथा ह० प्रदीपिका ५,९०–९१।

३—देखिए योग और हठयोग।

कहना ! वह जो समग्र विश्व के बीजस्वरूप, अत्यधिक देदीप्यमान ज्योति वाले तत्व को देख लेता है वह उस परमवस्तु को पा जाता है। उस लिंग[1] (आत्मा) की पूजा के लिये दिन (जब सूर्य या पिंगला काम कर रही हो) या रात (जहाँ चन्द्र या इड़ा काम कर रही हो) ठीक नहीं। दिन एव रात, या इड़ा एवं पिंगला के निरोध के बाद ही लिंग की पूजा उन्मनी अवस्था पैदा कर सकती है।[2] इसी ग्रन्थ में खेचरी मुद्रा के अभ्यास से उन्मनी की प्राप्ति बताई गई है।[3] इसी ग्रन्थ में एक तीसरे स्थल पर औदासीन्य (सम्भवतः वैराग्य) को उन्मनीरूपी कल्पलता को बढ़ाने और पुष्ट करनेवाला जल कहा गया है।[4] हठयोग प्रदीपिका ६, ७९ में कहा गया है कि उन्मनी अवस्था को शीघ्र प्राप्त करने के लिए दोनों भ्रुवों के मध्य मे ध्यान को केन्द्रित करने से नाद द्वारा उत्पन्न होने वाली लयावस्था प्राप्त हो जाती है। कम बुद्धि वालों के लिये राजयोग पद प्राप्त करने का यह सबसे सीधा उपाय है—'उन्मन्यवाप्तयेशीघ्रं भ्रूध्यानम् मम सम्मतम्। राजयोग पद प्राप्ति सुखोपायोऽल्पचेतसाम्। सद्यः प्रत्यय सधायी जायते नाद यो लयः ॥'

मण्डल ब्राह्मणोपनिषत् में शाम्भवी, खेचरी आदि मुद्राओं का विवरण देने के बाद उनसे सम्पन्न होने वाले प्राणापान ऐक्य का प्राप्त होना, उस ऐक्य से मन

१—दे० 'लिंग' परिशिष्ट १।

२—तारे ज्योतिषि सयोज्यकिंचिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयागमनोयुजन उन्मनीकारक क्षणात् ॥
के चिदागम जालेन केचिन्निगम सकुले.।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥
अर्द्धोन्मीलित लोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः।
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्द भावेन य.॥
ज्योतीरूपमशेष बीज मखिल देदीप्यमान परम्।
तत्व तत्पदमेतिवस्तु परम वाच्यं किमत्राधिकम् ॥
दिवा न पूजयेल्लिंग रात्रौ चैव न पूजयेत्।
सर्वदासर्वदा पूजयेल्लिंग दिवारात्रि, निरोधत ॥

हठयोगप्रदीपिका, ४, ३८–४१।

३—वही, ४, ४६ अभ्यस्तात्खेचरीमुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते। शाडिल्योपनिषद्, २२ भी देखिए।

४—वही, ४, १०३।

का लीन होना, मन के लीन होने से शब्द का लय होना, इस लय से पूर्ण ज्ञान का उत्पन्न होना, उस परिपूर्ण ज्ञान से उन्मनी अवस्था का और उन्मनी अवस्था से ब्रह्मैक्य का प्राप्त होना—उन्मनी की प्राप्ति का यही क्रम बताया है।[1] इसी प्रकार शाण्डिल्योपनिषत् में चौदह प्रमुख नाड़ियों, उनसे उत्पन्न होने वाली अन्य अनेक नाड़ियों, प्राणायाम, नाड़ीशोधन आदि का पूरा विवरण देकर बताया गया है कि इस प्रकार क्रमशः सुषुम्ना के मुख का भेदन करके इड़ा—पिंगला के मार्ग से प्रवाहित होने वाला प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है और प्राणवायु के मध्यमार्ग से सचरित होने पर मन सुस्थिर हो जाता है। यह जो मन का सुस्थिरी भाव है वही मनोन्मनी अवस्था है।[2] 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में प्रकारान्तर से उन्मनी की प्राप्ति का यही क्रम बताया गया है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्मनी या मनोन्मनी अवस्था की प्राप्ति सम्पूर्ण हठयोगिक क्रियाओं का अन्तिम फल है। कहा गया है कि इस अवस्था को प्राप्त कर लेने से शरीर काष्ठवत् हो जाता है, योगी सभी अवस्थाओं से विनिर्मुक्त और सभी चिन्ताओं से विवर्जित होकर जीवन्मृत तथा जीवन्मुक्त हो जाता है। फिर न उसे काल खा सकता है, न कर्म उसके मार्ग में बाधा खड़ी कर सकते हैं और न कोई उसे बाध ही सकता है। यह उसकी समाधि की अवस्था होती है। इस समाधि की अवस्था मे वह रूप, रस, गध, स्पर्श, श्वास-प्रश्वास, अपना-पराया सब कुछ भूल जाता है। जाग्रत और सुषुप्ति की समग्र स्मृतियों से वह ऊपर उठ जाता है। समाधि से युक्त ऐसा योगी शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान की समस्त अनुभूतियों से अतीत हो जाता है। स्वस्थ जाग्रत अवस्था में भी सुप्तवत् रहनेवाला यह योगी निश्वास (अर्थात् दुःख) एवं उच्छ्वास (आह्लाद या सुख) से हीन हो जाता है अतः वह निश्चितरूप से मुक्त जैसा ही होकर रहता है। समाधि से युक्त ऐसा योगी किसी भी शस्त्र द्वारा न तो मारा ही जा सकता है न किसी भी प्राणी द्वारा दबाया ही जा सकता है। वह मत्र तत्रों द्वारा वश में भी नहीं किया जा सकता।[4]

१—दे० मण्डल ब्राह्मणोपनिषत् २, १–२ ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद, पृ० २७६–७७।

२—शाण्डिल्योपनिषत्, वही, पृ० ३२७–२८, इसमें प्राप्त उन्मनीवर्णन और हठयोग प्रदीपिका का वर्णन अक्षरशः एक ही है।

३—बन्धं भेदच मुद्रा गलबिल चिबुक मध्यमार्गं सुषुम्णा चन्द्रार्के सामरस्य शमदमनियः नाद बिन्दु कलान्ते। ये नित्यं कलयन्ते तदनुच मनसामुन्मनी योगयुक्ते। ७, ९, पृ० ३९।

४—हठयोग प्रदीपिका, ४, १०६–११३।

५७—हठयोग के ग्रन्थों में उन्मनी या मनोन्मनी की क्रमिक उपलब्धि के समय योगी द्वारा सुने जाने वाले अनेकशः नादों का उल्लेख भी किया गया है और इस तरह उसकी उपलब्धि का क्रम भी बताया गया है। 'नादबिन्दूपनिषद्' मे बताया गया है कि जब योगी सिद्धासन बाँध कर वैष्णवी मुद्रा धारणा करता है तो उसे दाहिने कान से शरीरस्थ अन्तर्नाद या अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगता है। इस नाद का अभ्यास बाहर की ध्वनियों को आवृत कर लेता है अर्थात् बाहर की कोई ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। इस प्रकार सारा पक्ष-विपक्ष विर्जित हो जाता है और योगी तुर्यपद (चौथी अवस्था, मृतवत् स्थिति) प्राप्त कर लेता है। प्रथम अभ्यास मे योगी को अनेक तरह के तीव्र नाद सुनाई पड़ते हैं और अभ्यास ज्यों-ज्यों बढता जाता है ये नाद त्यों-त्यों सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं। शुरू में सुनाई देने वाला नाद बादलों के गर्जन, जलवर्षण, भेरी या निर्झर द्वारा उद्भूत नादों की तरह तीव्र होता है। अभ्यास की मध्यावस्था में वह मर्दल (मादल) घण्टा या काहल (ढोल) द्वारा उत्पन्न होने वाली ध्वनियों जैसी ध्वनियाँ सुनता है। अभ्यास की अन्तिम अवस्था में उसे किंकिणी, वशी, वीणा या भ्रमरों की गूँज जैसी ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। इस प्रकार समाधि की अवस्था में सुनाई पड़नेवाली ये ध्वनियाँ क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम होती जाती हैं और मन स्थिर होकर सभी बाह्य ध्वनियों को विस्मृत कर देता है। ऐसा करने से वह एकाग्र होकर सहसा चिदाकाश में विलीन हो जाता है। इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास से सयमी पूर्णतया उदासीन वृत्तिक बन जाता है और तब तत्क्षण उन्मनी कारक नाद को धारण कर लेता है। सभी चिन्ताओं को छोड़कर सभी चेष्टाओं से अतीत होकर, नाद (अनाहतनाद) मात्र के ध्यान से चित्त नाद में ही विलीन हो जाता है। मरकन्द पीते समय भ्रमर जिस प्रकार गंध पर ध्यान नहीं देता नाद के प्रति आसक्त चित्त उसी प्रकार विषयों की आकाक्षा नहीं करता। नाद के ग्रहण से चित्तरूपी अतरग भुजग नाद की गध बँधकर, सभी चचलताओं को तत्क्षण विसर्जित कर देता है और अपने आस-पास की दुनियाँ को भूलकर एकाग्रचित्तता की अवस्था में इधर-उधर की भागदौड़ छोड़ देता है। तीव्र अंकुश की तरह यह नाद विपयों के वन में मुक्त विहार करने वाले मदमत्त गज रूपी मन को वश में कर लेता है, चित्त रूपी मृग को अपने जाल में बाँध लेता है। अन्तरग समुद्र के रुद्ध हो जाने पर ज्योतिर्लयात्मक नाद ब्रह्मप्रणव में सलग्न हो जाता है और इस प्रकार विष्णु के परमपद में मन लीन हो जाता है। जहाँ तक आकाश है, वहाँ तक ब्रह्म की सिसृक्षा का प्रतिरूप शब्द व्याप्त है। ब्रह्म शब्द से अतीत है।

जहाँ शब्द आहत एवं अनाहत दोनों नहीं है वह निश्शब्द परब्रह्म ही परमात्मा कहकर जाना जाता है। जहाँ तक नाद है वहाँ तक मन है, जहाँ नाद का अन्त हो जाता है वही मनोन्मनी है। शब्द-अक्षर के क्षीण हो जाने पर प्राप्य यह मनोन्मनी ही निःशब्द परमपद है। अनाहतनाद के अनुसंधानस्वरूप प्राप्त इस मनोन्मनी अवस्था में पहुँच कर सभी वासनाएँ, मन, सहस्रकोटि नाद और शतकोटि बिन्दु निरंजन में विलीन हो जाते हैं और योगी सभी अवस्थाओं एवं चिन्ताओं से विनिर्मुक्त होकर जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेता है। फिर न उसे शंख की आवाज सुनाई पड़ती है न दुंदुभि की। उसका शरीर काष्ठवत् हो जाता है, ध्रुव उन्मनी अवस्था के प्राप्त हो जाने से शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाओं से उसका चित्त ऊपर उठ जाता है, उसे स्वरूपस्थता प्राप्त हो जाती है। फिर तो दृश्य के बिना ही (शून्य में) उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, प्रयास के बिना ही उसके वायु स्थिर हो जाते हैं, अवलम्ब के बिना उसका चित्त स्थिर हो जाता है।[१] हठयोग प्रदीपिका में भी ऐसी ही बातें कही गई हैं।[२]

हठयोग में इस उन्मनी को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया गया है। यह तथ्य अब तक कही गई बातों से ही स्पष्ट है। उन्मनी भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तरह का उत्कर्ष देने वाली स्थिति है। कहा गया है कि 'उन्मन्या सहितो योगी न योगी उन्मनी बिना'।[३] हठयोग प्रदीपिका के मत से 'एक ही सृष्टिमय बीज बीज है, एक ही खेचरी मुद्रा मुद्रा है, एक ही निरालम्ब देव देव है, और एक ही मनोन्मनी अवस्था अवस्था है।[४]

*

नाथ-सिद्धों की वाणियों में उन्मनी

५८—नाथ-सिद्धों की वाणियों में उन्मनी का प्रयोग सिद्धान्त ग्रन्थों में निरूपित अर्थों में बहुशः हुआ है और इन प्रयोगों की प्रकृति से स्पष्ट लगता है कि प्रयोग करने वाले सिद्धों और उन वाणियों के लक्षीभूत श्रोता दोनों उन्मनी के

१—नाद बिन्दूपनिषद् ३१-५६, ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्', पृ० २२५-२६

२—हठयोग प्रदीपिका, अध्याय ४।

३—सर्पेण्ट पावर मे सग्रहीत, षट्चक्र निरूपण, पृ० ५१ पर उद्धृत।

४—हठयोग प्रदीपिका ३, ५३, गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह, पृ० ३६, तथा गोरक्षपद्धति १६, पृ० ४०।

विषय में बहुत अधिक जानते हैं—क्योंकि बहुधा इस शब्द का प्रयोग बिना किसी विवरण व्याख्यान के सीधे-सीधे कर दिया गया है। उदाहरण के लिये, जैसा हम अभी काफी विस्तार से देखने का अवसर पाएँगे, सन्त जब उन्मनी की बात करते हैं तो कुछ इस ढग से कि सुनने वाला समझ सके यह उन्मनी क्या है, कैसे लगती है और क्या फल देती है ? पर नाथ-सिद्ध ऐसा कम करते हैं—या बहुत कम करते हैं। वे तो सीधे से कह जाते हैं कि—

यहुमन सकती यहुमन सीव यहुमन पाँच तत्त का जीव।
यहुमन ले जै उनमन धरै तौ तीनि लोक की बाता करै[1] ।। गोरखनाथ।

२—उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नीझर पाणी[2]।
लका छाडि पलंका जाइबा तब गुरमुष लेबा बाणी ।।—गोरखनाथ।

३—चेता रे चेतिबा आपा न रेतिबा पच की मेटिबा आसा।
बदंत गोरष सति ते सूरिवा उनमनि मन मैं बासा[3] ।।—गोरखनाथ।

४—तूटी डोरी रसकस बहै, उनमनि लागा अस्थिर रहै।
उनमनि लागा होइ अनद, तूटी डोरी बिनसै कद[4] ।।

५—परचय जोगी उनमन बेला, अहनिसि इच्छया करै देवता सूँ मेला।
षिन षिन जोगी नानारूप, तब जानिबा परचय सरूप[5] ।।

६—माली लो माली लो। सीचै सहज कियारी।
उनमनी कला एक पुहुप निपाया, आवागमन निवारी[6] ।।—चौरगीनाथ

७—उनमन रहना भेद न कहना। पीवना नीझर पानी।
पानी का सा रग ले रहनी। यों बोलत देवदत्त बानी[7] ।।—दत्त जी

८—गोरखनाथ गुरु सिष बालगुँदाई। पूछत कहिबा सोई।
उनमनि ताली जोति जगाई। सिधा घरि दीपग होई[8] ।।—बालगुदाई

१—गोरखबानी, सबदी ५०, पृ० १८।

२—वही, सबदी ६४, पृ० २३।

३—गोरखबानी, सबदी ११४, पृ० ४०।

४—वही, सबदी १२८ पृ० ४५।

५—वही, सबदी १३८, पृ० ४८।

६—नाथसिद्धों की बानियाँ—स० हजारीप्रसाद द्विवेदी, चौरगीनाथ जी की सबदी, ४, ३४६, पृ० ४८।

७—वही, दत्तात्रे जी की सबदी ३, ३८४, पृ० ५८।

८—वही, बालगुदाई जी की सबदी १४, पृ० ९५।

ये उद्धरण उन्मनी के विषय में कोई खास सूचना नहीं देते किन्तु हस्तलिखित प्रतियों में इनका सुरक्षित बचा रह जाना इस बात का प्रमाण है कि नाथपथ में आस्था रखने वाले लोगों की दृष्टि में ये काफी महत्त्वपूर्ण रहे हैं और इसीलिये अनन्त सख्या में खो या भुला दिये जाने वाले अन्य पदों की अपेक्षा ये अधिक सशक्त हैं। यह शक्ति इनके काव्यत्व की नहीं है, पदलालित्य की भी नहीं है। अतः इनका वक्तव्य विषय ही सशक्त है यह निश्चित है। और वह वक्तव्य विषय है उन्मनी लगाने का आदेश। कौन सी उन्मनी यह सवाल वे उठाते हैं जो उन्मनी को न जानते हों। उक्त पदों के रचयिता नाथसिद्ध और इन्हें आदरपूर्वक सुरक्षित रखने वाले आस्थाशील जनवर्ग के सामने ऐसा कोई सवाल नहीं था।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि नाथ सिद्धों ने अपनी सबदियों या बानियों में उन्मनी के अर्थ आदि का कोई सकेत ही न दिया हो। वे उन्मनी की बात करते हुए उसके अर्थ, उसे प्राप्त करने की रीति, उसके महत्त्व आदि का भी उल्लेख करते हैं और ये उल्लेख या विवरण सिद्धान्तग्रन्थों में प्राप्त विवरणों की पूरी संगति में बैठते भी हैं।

५९—उन्मनी या मनोन्मनी सूर्य और चन्द्रमा के सयोग या सामरस्य से प्राप्त होती है।[1] गोरखनाथ ने इस बात को कई बार कहा है। उनकी एक सबदी है—'उलटंत नादं पलटत ब्यद, बाई के घरि चीन्हसि ज्यद। सुनि मडल तहा नीझर झरिया, चद सुरचि लै उनमनि घरिया।[2] इसमें गोरखनाथ ने सूर्य-चन्द्र के मेल या सामरस्य से उन्मनी का उत्पन्न होना बताया है। उनका कहना है कि यदि सूर्य और चन्द्र के योग से उन्मनी धारण कर ली जाय तो विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त नाद उलट कर अन्तर्मुख हो जाता है, अधोमुख बिन्दु (अर्थात्- झड़ना या पतित होना ही जिसकी व्यापक वृत्ति है ऐसा वीर्य या शुक्र) ऊर्ध्व-मुख हो उठता है। वीर्य की ऊर्ध्वमुखता ही चूँकि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का उपाय है अतः उसके ऊर्ध्वमुख होने से प्रसुप्त कुण्डलिनी जाग्रत होकर सहस्रा-रस्थ परमशिव से सामरस्य के लिये षट्चक्रों को भेदती हुई ऊपर उठ जाती है, प्राणायाम द्वारा ब्रह्माण्ड में चढ़ाया हुआ प्राणवायु अपना असल घर पहचान लेता है और अमरतादायक चन्द्ररस शून्य मण्डल में निर्झर की तरह प्रस्रवित होने लगता है। इसी प्रकार महादेव जी नामक नाथसिद्ध का कहना है कि चन्द्र

१—दे० योग और हठयोग, पैरा ३८-४७
२—गोरखबानी, सबदी, ५५, पृ० २०

मण्डल में अगर सूर्य को संचरित कर दिया जाय और इस प्रकार ध्यान धारण करके उन्मनी लगाई जाय तो काल और विकाल सभी अपवारित हो जाते हैं अतः अपनी 'सहज वाणी' में ध्यान धारण करने और उन्मनी को प्राप्त करने का सीधा तरीका बताते हुए वे सूर्य को चन्द्रमण्डल में सचरित करने की सलाह देते हैं।[१] गोरखनाथ ने एक अन्य सबदी में चाँद और सूर्य के विलीन हो जाने पर गगनमण्डल में स्वप्रकाश रूपा उन्मनी की सेज के चमकने की बात की है और अवधू को सम्बोधित करके कहा है कि दभ को वश में करके, जहाँ अनहदतूर (अनाहतनाद) निरन्तर बजता रहता है ऐसी उन्मनी अवस्था में रहना चाहिये।[२]

६०—नाथ सिद्धों ने उन्मनी की प्राप्ति के लिये प्राणायाम का उल्लेख सकेत किया है। प्राणायाम मन और प्राण के संयमन की सर्वाधिक मान्य हठयोगी विधि है। गोरखनाथ ने इन मन और प्राण का सयमन करके उन्मनी धारण का आदेश देते हुए कहा है कि सयम से रहना देवकला है और आहार के पीछे पड़े रहना भूतकला[३]। तत्वसार को जाननेवाला योगी तो वह है जो मन और पवन को एकस्थ करके उन्मनी धारण करे।[४] एक अन्य सबदी में उन्होंने स्पष्ट रूप से प्राण और अपान वायु को उदरस्थ अर्थात् अन्तर्मुख करने और इस प्रकार नवद्वारों को बन्द

१—नाथसिद्धों की बानियाँ, महादेव जी की सबदी १२, पृ० ११६।
'चन्द्रमडल मधे सूरीयो सचारि, काल त्रिकाल आवता निवारि।
उनमनि रहिबा धरिबाधयान, सकर बोलति सहज बानि।।

२—गोरखनाथ, सबदी ५१, पृ० १९।
अवूध दभ को गहिबा उनमनि रहिबा ज्यू बाजबा हनहदतूर।
गगन मडल मै सेज चमकै चद नहीं तहा सूर।

३—गोरखनाथ भरि-भरि खाने के बहुत खिलाफ हैं। उनका विश्वास है कि भरि-भरि खाने से शुक्रक्षरित होता है और शुक्रक्षय उनकी दृष्टि से भयकरतम अपराध है। अमरदेह की कामना करने वाले हठयोगी के लिये यह भरि-भरिखाना, झरि झरिजाना पिशाचकर्म है। गोरख इसीलिये बताते हैं कि अगर-सदैव निरोग रहना है तो आहार को तोड़ो, निद्रा को मोड़कर उसे वश में करो। दे० सबदी ३०-३३, पृ० १२-१३।

४—देव कला ते सजय रहिबा भूत कला अहार।
मन पवना ले उनमनि धरिबा ते जोगी तत सार।

गोरखबानी, सबदी ३४, पृ० १३।

करके अपार 'उन्मना जोग' को प्राप्त करने का आदेश दिया है।[1] प्राणायाम में बाहर की ओर गतिवाले प्राण को उलटकर अन्तर्मुखी बनाया जाता है और इस प्रकार अनाहतनाद का साक्षात्कार होता है। गोरख ने अनहदनाद के साक्षात्कार से ही उन्मनी की उत्पत्ति बताई है और उसी व्यक्ति को सन्यासी माना है जो सब कुछ का त्याग (सर्वनास=सर्वन्यास,न्यास=त्याग) करके केवल शून्यमण्डल (=स्थ=परमशिव) की आशा रखता है और अनाहतनाद में मन को सन्निविष्ट करके उन्मनी धारण करता है।[2] नागा अरजन (सम्भवतः नागार्जुन) की एक सबदी में अहंकार त्याग और सद्गुरु की सहायता के साथ ही समस्त यौगिक क्रियाओं को भी उन्मनी प्राप्ति के लिये आवश्यक बताया गया है। उनका कहना है कि अहंकार को मिटा कर, सद्गुरु को स्थापित करके तथा योगयुक्ति की अनवहेला द्वारा जब उन्मनी की डोरी खींची जाती है तभी सहज ज्योति का साक्षात्कार होता है।[3] बालनाथ जी के मत से असली योगी तो वही हो सकता है जो पवन अर्थात् प्राणापानादि पाँच प्राणों को अन्तर्मुखी करके उन्मनी की तारी लगाए युग-युग जीवित रहे।[4] थोड़े से शब्दांतर के साथ यही बात बालगुंदाई जी ने भी कही है।[5] श्री दत्तात्रे की राय में क्षमा, जाप, शील, सेवा, तथा पचेन्द्रियों की विषयासक्ति को दग्ध कर के ही निर्वाणदेव की आवास-भूमि-स्वरूपो उन्मनी प्राप्त होती है, और इसके प्राप्त हो जाने पर भेदभाव तो मिट ही जाता है अक्षय जीवन

१—सास उसास बाइ कौं भषिबा रोकि लेहु नवद्वारं।
छठै छमासि काया पलटिबा, तब उनमनी जोग अपार॥
वही, स० ५२, पृ० १९।

२—सन्यासी सोइ करै सर्वनास, गगन मंडल महि माडै आस।
अनहद सू मन उनमन रहै, सो सन्यासी अगम की कहै।
वही, स० १०३, पृ० ३६।

३—आपा मेटिला सतगुर थापिला। नकरिबा जोग जुगुति का हेला।
उनमन डोरी जब खँचीला तब सहज जोति का मेला॥
नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ६७।

४—पवन पियाला भषिबौ करै उनमनी ताली जुगि जुगि धरै।
रामैं आगे लषमण कहै, जोगी होइ सु इहि बिधि रहै॥
वही, पृ० ९१।

५—दे० वही, पृ० ९४, सबदी ४।

(अमरता) भी मिल जाता है।[1] गोरख ने मन पवन को प्राणायाम द्वारा मिला कर उन्मनी साधने और इस प्रकार सत्व, रज, तम नामक तीनों गुणों को बाधित करके जीवन-मरण, की सधि स्वरूप अखण्ड अजर-अमर पद को प्राप्त करने की सलाह दी है।[2]

६१—नाथसिद्धों ने उन्मनी-साधना के मार्ग मे पड़ने वाले खतरों का भी उल्लेख किया है। गोरखनाथ का कहना है कि जब तक उन्मनी की डोरी टूटी हुई हो चन्द्रमडल से प्रस्रवित होने वाला अमृत-रस कैसे बह सकता है? वह तो उन्मनी की तारी लगने पर ही प्रवाहित होता है। उन्मनी के लगने से ही स्थिरता आती है और आनन्द मिलता है। लेकिन अगर उन्मनी की तारी टूट जाय तो तत्क्षण शरीरपात हो जाता है।[3] गोरखनाथ ने इसके लिये दसवें द्वार को बन्द करने की नई रीति का सधान बताया है। उनका कहना है कि उन्मनी लगाने वाला योगी दशमद्वार (ब्रह्म रन्ध्र) मे समाविस्थ होता है और नाद तथा विन्दु के मेल से धूँधूँकार रूपी अनाहतनाद का साक्षात्कार करता है लेकिन गोरख ने एक और ही रास्ता खोज लिया है। वह रास्ता है दसवें द्वार को भी कपाटबद्ध करके निरन्तर स्थिर रहने वाली उन्मनी लगाना।[4]

नाथों ने यदाकदा उन्मनी के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारियाँ भी दी हैं। अपने एक पद में उन्मनी द्वारा तृष्णाक्षय की बात करते हुए गोरख ने प्रेमपाश में बद्ध योगी योगिन के रूपक के सहारे काफी विस्तार से उन्मनी

१—खिमा जाप सील सेवा। पच इन्द्री हुतासनम्।
उनमनि मडप निरञ्जन देव। सदाजीव न भाव न भेव॥
वही, पृ० ५८।

२—गोरख बानी, पन्द्रह तिथि ८, पृ० १८२,
सातन, सत रज तम गुण बधि, पावौ जीवन मरण की सधि।
अविहड अजर अमर पद गहौ, मन पवन ले उनमन रहौ॥

३—तूटी डोरी रस कस बहै। उनमनि लागा अस्थिर रहै।
उनमनि लागा होइ अनद। तूटी डोरी बिनसैकन्द॥
गोरखबानी, सबदी, १२८, पृ० ४५

४—उनमन जोगी दसवें द्वार। नाद व्यंद लै धूधूकार।
दसवें द्वारे देइ कपाट। गोरष षोजी औरे बाट॥
वही, सबदी १३५, पृ० ४७।

को समझाया है। वे अपने मन रूपी वैरागी जोगी की स्थिति बताते हुए कहते हैं कि मेरा यह वैरागी योगी (मन) अत्यन्त भोगी है। जोगिनी (प्रिया, शक्ति, कुण्डलिनी) का साथ छोड़ता ही नहीं। मानसरोवर (सहस्रार जो अमृतजल से पूर्ण है) में मनसा रूपी वह मेरी जोगिन (कुण्डलिनी, शक्ति का एक नाम) मस्ती में झूलती हुई आती है और गगनमंडल के मठ को अपनी उपस्थिति से शोभामण्डित कर देती है। अगर कभी पूछिए कि भई तुम्हारी जोगन रहनेवाली कहाँ की है, तुम्हारे सास ससुर कौन हैं और कहाँ रहते हैं, किस जगह उससे मिल कर तुमने यह घर-बार सजाया है? तो वह बताता है कि मेरे सास और ससुर नाभि देश (मणिपुर) में रहते हैं।[1] मैं ब्रह्मस्थान में रहता हूँ और इड़ा-पिंगला रूपी जोगिन है जिससे मैं मिश्र हूँ। इच्छाओं और इच्छाओं के अतृप्त रह जाने पर उत्पन्न होने वाले क्रोध को भस्म करके मैंने चूना बना दिया है, कन्दर्प (कामासक्ति) कपूर, मन और पवन को कत्था और सुपारी बनाकर उनसे स्वतः उत्पन्न होने वाले लाल सिन्दूरी रंग रूपी उन्मनी को मैंने सौभाग्य-चिह्न की भाँति उसके अधरों और ललाट पर अंकित कर दिया है। अब तो चौबीस घण्टे आनन्दमग्न हूँ। तानपूरा हरदम बजकर अनहद नाद पैदा करता रहता है। ज्ञान और गुरु इस तानपूरे के दो तूँबे हैं, मन का चैतन्य ही इसका दण्ड है। उन्मनी की ताँत निरन्तर बजती रहती है। सभी तृष्णाएँ खण्डित हो गई हैं। एक अबला बाल कुआँरी का गुरु ने मुझसे परिणय करा दिया है। गोरख कहते हैं कि गुरु मत्स्येन्द्र की कृपा से माया (शक्ति, कुण्डलिनी) अब मन रूपी योगी की परिणीता होकर पूरी तरह उसकी वशवर्तिनी बन गई है। माया का भय उन्मनी लग जाने से नष्ट हो गया है।[2] इस पद में इड़ा-पिंगला के मार्ग से चलने वाले प्राण को प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध करके सुषुम्नामार्ग से प्रवाहित करने और इस प्रकार उसे सहस्रार

१—डॉ० बड़थ्वाल ने बताया है कि नाभि (मणिपुर) में कुलकुण्डलिनी शक्ति का निवास माना जाता है। इसी शक्ति (मूल या आदि माया) के द्वारा सृष्टि का निर्माण हुआ है इसीलिये उसे ब्रह्मा और सावित्री का निवास मानते हैं। यही सास ससुर कहे जाते हैं क्योंकि ये स्थूल माया को पैदा (पोषित ?) करने वाले हैं।

वही, पृ० १०५-६।

२—माहरा रे वैरागी जोगी अहनिसि भोगी, जोगणि संग न छाडै।
मान सरोवर मनसा झूलती आवै, गगन मंडल मठ माडै रे॥ टेक॥

में पहुँचाकर उन्मनी अवस्था के सम्पन्न होने से सभी तृष्णाओं आदि की समाप्ति का जो ब्यौरेवार विवरण दिया गया है वह सिद्धान्तग्रन्थों में दिए गए उन्मन-सम्बन्धी विवरणों जैसा ही है और ठीक उसी तरह की बातें भी सामने लाता है।

६२—उन्मनी के माहात्म्य से सम्बद्ध कथन भी इन में मिलते हैं। गोरख-नाथ ने कहा है कि 'अहनिसि मन लै उनमन रहै,' गम की छाड़ि अगम की कहै। छाड़े आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास'॥[1] एक अन्य सबदी में वे बताते हैं कि अगर उन्मनी की तारी लग जाय तो मन और पवन जैसे असाध्य तत्व भी साध लिये जाते हैं, सहस्रार में अनाहतनाद का गर्जन सुनाई पड़ने लगता है, पवन बहिर्मुख से उलटकर अन्तर्मुख हो जाते हैं, वाणी परा से वैखरी की ओर बढ़ती हुई क्रमशः स्थूल होते जाने की जगह वैखरी से परा बनने के क्रम में क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है, और इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी चन्द्रमा से स्रवित होने वाले उस अमृत को पीने लगता है जिसे उसने कभी नहीं पिया था।[2] श्रीदत्तात्रे (दत्तात्रय) ने निर्वाणदेव की निवासभूमि-उन्मनी को भावभेद से मुक्ति एव सदाजीवन (अमरता) देने वाली और इस प्रकार मोक्ष का द्वार

कौन अस्थानिक तोरा सासू नै सुसरा कौन अस्थान क तोरा बासा।
कौन अस्थानक तूँ ते जोगणि भेटी, कहा मिल्या घर बासा॥ १॥

नाम अस्थानक मोरा सासू नै सुसरा, ब्रह्म अस्थान क मोरा बासा।
ईला-प्यगुला जोगण भेंटी सुखमन मिल्या घर बासा॥ २॥

काम क्रोध वाली चूना कीया कन्द्रप कीया कपूर।
मन पवन दो काथ सुपारी उनमनी तिलक सींदूर॥ ३॥

ज्ञानगुरु दौड तूँबा अम्हारै, मनसा चेतनि डाडी।
उनमनी ताती वाजन लागी यहि विधि तृष्णा षाड़ी॥ ४॥

एणै सतगुरि भ्रम्हैं परणाव्या, अबला बाल कुँवारी।
मछिन्द्र प्रसाद श्रीगोरष बोल्या, माया ना भयटारी॥ ५॥

गोरखबानी, पद १६, पृ० १०५–६।

१—वही, सबदी १६, पृ० ७।

२—असाध साधत गगन गाजत उनमनी लागत ताली।
उलटत पवन पलटत बाणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी॥-वही,
सबदी ९०, पृ० ३२।

उद्घाटित करने वाली बताया है और योगी को सलाह दी है कि वह लोकाचार को छोड़कर इसका अनुगमन करे।[1]

*

सन्तों की उन्मनी

६३—हम प्रारम्भ में ही कह आये हैं कि सतों द्वारा बहुशः प्रयुक्त उन्मनी उसके विभिन्न शब्दरूप तथा उन्मनीभाव और उनमुनि या उनमनि रहनी मूलतः नाथपथी योगियों की मनोन्मनी से सम्बद्ध है। यहाँ उन्मनी के सन्त-प्रयुक्त अर्थों की समीक्षा करने के पहले इतना और जोड़ लेना आवश्यक है कि यह सम्बन्ध उसी सीमा तक है जिस सीमा तक सन्त, सन्तमत या सत-साहित्य हठयोगी नाथों, उनके मत एव साहित्य से सम्बद्ध है। नाथों, उनकी मान्यताओं, आचार विधियों एव जीवन-दृष्टि के प्रति सन्तों में गहरा सम्मान भाव है। जिस मन को उनके उपास्य शिव तथा ब्रह्मा जैसे देवता, सनक, नारद, ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, जैसे ज्ञानी भक्त भी नहीं जान सके, सतों का विश्वास है कि गोरख, भरथरी और गोपी चन्द ने उसे जान लिया था।[2] लेकिन इस सम्मानभाव के पीछे कोई अन्ध श्रद्धा नहीं थी अतः ऐसे बहुत कुछ को, जिसे नाथयोगी बहुत-बहुत महत्व देते थे पर जो सन्तों के जीवनसत्य पर खरा नहीं उतरता था, सन्तों ने एकदम अस्वीकार कर दिया है। बहुत कुछ को सुधार-परिष्कार के बाद स्वीकारा है। और बहुत कुछ ऐसा है जो उनका अपना है। व्यवहार के स्तर पर अस्वीकार, सशोधित स्वीकार और नव्यतम परिवर्द्धन का स्वरूप

१—जे तू छाड़िस लोकाचार। तौतू पाएसि मोष दुवार।
उनमनि मडप तहा निरबाण देव। सदा सजीवनभाव न भेव॥
लौलीन पूजा तहाँ दीप न धूप, सति-सति भाषंत दत अवधूत॥
—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ५६।

२—दे० कबीर ग्रन्थावली, स० डॉ० पारसनाथ तिवारी, पद ४८, पृ० २८।
'सनक सनदन जैदेउ नामा। भगति करी मन उनहुँ न जाना।
सिव बिरचि नारद मुनि ज्ञानी। मन की गति उनहूँ नहिं जानी॥
ध्रू पहलाद बिभीखन सेखा। तन भीतर मन उनहूँ न पेखा।
ता मन का कोई जानै न भेउ। तामनि लीन भया सुखदेव॥
गोरख भरथरी गोपी चंदा। ता मन सौं मिलि करैं अनदा।

सत-मत और उसकी आचार-व्यवहार सम्बन्धी दृष्टि के रूप में व्यक्त हुआ है और विचार के स्तर पर उसके नाथों की शब्दावली में लाए गए अर्थगत अतरों में अभिव्यक्ति पाई है।

नाथों के पास उन्मनी साधने की सुविधा भी थी अवकाश भी। मठों-मढ़ियों या गहन गुफाओं में उत्पादन और उत्पादन के मार्ग के अनन्त उत्पातों से उनका कोई सरोकार नहीं था। सत इसके ठीक विपरीत गृहस्थी का पूरा जाल कधे पर लादे चलने वाले थे। उनका लक्षीभूत श्रोता इस अर्थ में और भी अधिक तग था। उनके पत्नी थी, बच्चे थे, बच्चों के भाग्य पर रोने वाले थे।[1] उनके लिये करघा चलाना, जूते गाँठना, कपड़ा सीना, हल जोतना जरूरी था।[2] अधिक न सही पर उसे भी उतने की जरूरत तो थी ही जिसमें कुटुम्ब समा सके, स्वय भूखा न रहना पड़े और साधु भी भूखा न जाए।[3] इसके लिये उसे जहाँ तहाँ जाना पड़ता, 'जो कुछ' करना पड़ता था। अवधू के निद्राजय का उपदेश तो उसकी जिन्दगी की जालत ने हो पूरा करवा दिया था पर अगले दिन के 'कुटुब-समावा' काम के लिये सोना भी पड़ता था।[4] ऐसी स्थिति में नाड़ी-शोधन और षट्कर्म की सुविधा कहाँ, आँख-कान मूँदकर उन्मनि की तारी लगाने का अवकाश कहाँ? परिणामतः षट्कर्म उन्हें व्यर्थ की खटखट लगे।[5] उन्हें नए रूप में सोचने की जरूरत पड़ी कि उन्मनी की तारी कैसे लगे क्योंकि उन्मनी सतों को बहुत प्रिय थी। हठयोग की बहुत सारी बातों की तरह वे इसे अस्वीकार नहीं कर सकते थे। अत. स्वीकारते हुए उसमें थोड़ा सुधार कर लिया। सन्तों द्वारा प्रयुक्त उन्मनी में उस सशोधित स्वीकार का आभास स्पष्ट मिलता है।

१—वही, पद १२, पृ० ९।
'मुसिमुसि रोवै कबीर कै माई। ए बारिक कैसे जिवहिं, खुदाई॥

२—इस सम्बन्ध के विस्तृत विवरण के लिये दे० मेरा शोध-प्रबन्ध 'सत-साहित्य की दार्शनिक एव धार्मिक पृष्ठभूमि'—राजकमल।

३—साईं उतना दीजिए जा में कुटुम्ब समाइ।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाइ॥—कबीर

४—सहज समाधि की बात करते हुए कबीर ने 'जहँ-जहँ जाऊँ सोई परिकरमा जो कछु करउँ सोसेवा। जब सोऊँ तब करउँ दण्डवत पूजूँ और न देवा' की बात की है।

५—दे० आगे 'षट्कर्म'।

६४—हठयोग और नाथसिद्धों की उन्मनी के प्रसंग में हम काफी विस्तार से देख आए हैं कि वह सूर्यचन्द्र[1] और मन-पवन की साधना की सर्वोच्च सिद्धि है। संत भी यही मानते हैं। दादू का कहना है[2]—

मन पवन ले उनमन रहै, अगम निगम मूल से लहै ॥ टेक ॥
पंच वाइ जे सहजि समावै, सरिहर के घर आणे[1] सूर।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद शब्द बजावै तूर ॥ १ ॥
बकनालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवा कहीं न जाइ ॥
बिगसे कवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्मजीव की करै सहाइ ॥ २ ॥
बैसिगुफा में जोति बिचारै, तब तेहिं सूझै त्रिभुवन राइ।
अतरि आप मिलै अबिनासी, पद आनन्द काल नहिं खाइ ॥३॥
जामन मरण जाइ भव भाजै, अबरण के घरि बरण समाइ ॥
दादू जाय मिलै जग जीवन, तब यहु आवागमन बिलाइ ॥४॥

स्पष्ट है कि दादू की यह उनमनी मन-पवन के सगम से उद्भूत है। प्राणायाम द्वारा पचप्राणों को निरुद्ध करके सहजस्वरूपा सुषुम्ना में समाविष्ट करने और इस प्रकार सूर्यचन्द्र का सगम कराके उस सदा सुखदायी और सासारिक दाह से अतीत उन्मनी की उपलब्धि करने पर जो अनहद तूर सुनाई पड़ता है दादू की उन्मनी भी वैसी ही है और इस में भी वैसा ही होता है। उक्त पद में दादू ने हठयोग में स्वीकृत उन्मनी को ही अभिव्यक्ति दी है—वही सूर्य-चन्द्र का मेल, वैसे ही उस मेल के कारण सहस्रारस्थ चन्द्रमा से अमृत का स्रवित होना, उस महारस की वैसी ही अक्षय सुख देने वाली शीतलता, वैसा ही अनहद तूर, और वक्रनालि से होकर स्रवित होने वाले उस रस को पीकर मिलने वाला वैसा ही मन-स्थैर्य। ब्रह्मरध्र की गुफा में प्रविष्ट होकर ज्योति स्वरूपी परमपुरुष के ध्यान से त्रिभुवन राइ का सूझना, उस अविनाशी पुरुष का स्वय आकर साधक से मिलना, इस मिलन से अक्षय आनन्दपद की प्राप्ति, जन्म-मरण के भयकर भवचक्र का सदा-सदा के लिये भग्न हो जाना—सभी कुछ नाथों की उन्मनी में इसी रूप में मिलता है।

कबीर भी इड़ा-पिंगला को अवरुद्ध करके प्राणवायु को सुषुम्नामार्ग से प्रवाहित करने से प्राप्त होने वाली उसी उन्मनी की बात करते हैं। उन्मनी की रहनी को खरी बताते हुए उन्होंने कहा है कि यह उन्मनी अवस्था, जो जन्म-

---

१—दे० आगे 'योग और हठयोग' में सूर्य-चन्द्र सम्बन्धी चर्चा।
२—श्री स्वामी दादू दयाल जी की अनभै वाणी, पद ४०५, पृ० ६७४।

मृत्यु और वार्धक्य से अतीत है, मूलाधार में प्रसुप्त और अधोमुखी स्थिति में पड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति को उलट कर ऊर्ध्वमुखी करने से ही प्राप्त होती है। जाग्रत कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वमुखी होकर चक्रों को भेदती हुई सहस्रार की आवा-सभूमि (गगन) में पहुँचती है और असग परमशिव से सामरस्य स्थापित करती है तभी 'उन्मनि रहनी' सभव होती है। और यह सब कुछ सभव होता है कुम्भक प्राणायाम द्वारा। इसी कुम्भक को साध लेने पर अनहद बीना बजने लगती है, शशि सूर्य को ग्रस लेता है। चन्द्रमण्डल से क्षरित होने वाले महारस से सारी मोह पिपासा उपशमित हो जाती है।[1] इस पद से यह भी प्रकट है कि नाथों की ही तरह कबीर इसे 'कथनी' का विषय न मानकर 'करनी' का विषय मानते हैं। वे साफ कहते हैं—

मैं बकतै बकि सुनावा। सुरतै तहा कछून पावा।
कहै कबीर विचार। करता लै उतरसि पारं॥

सन्त दरिया साहब ने ब्रह्मपरिचय की बात करते हुए उन्मनी को कर्म और काल से अतीत बताया है और कहा है कि उन्मनी अवस्था को प्राप्त साधक जब उस अमूल्य रत्नस्वरूपी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है तो सारे तत्व, चन्द्र और सूर्य, रात और दिन, पाप-पुण्य, सुख-दुख का द्वैत मिट जाता है। वहाँ सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म होता है।[2] हमने नाद बिन्दूपनिषद में प्राप्त उन्मनी सम्बन्धी विवरण की समीक्षा करते हुए देखा है कि उक्त

१—पवन पति उनमनि रहनु खरा।
तहा जनम न मरन जुरा॥ टेक॥
मन बिंदत बिंदहिं पावा। गुरमुख तै अगम बतावा॥१॥
जब नखसिख यहु मन चीन्हा। तब अतरि मज्जनु कीन्हा।
उलटीले सकति सहारं। पैसीले गगन मझार।
बेधीलेचक्र भुअगा। भेटीले राइ निसंगा॥ ४॥
टूकीले मोह पियास। तहा ससिहर सूर गरासं॥ ५॥
जब कुभक भरि पुरि लीन्हा। तब बाजे अनहद बीना॥ ६॥
मैं बकतै बकि सुनावा। सुरतै तहा कछू न पावा॥ ७॥
कहै कबीर बिचार। करता लै उतरसि पारं॥ ८॥
कबीर ग्रन्थावली, पद ११५।

२—रतन अमोलक परखकर, रहा जौहरी थाक।
दरिया तह कीमति नहीं उनमुन भया अबाक॥ १॥
धरती गगन पवन नहिं पानी, पावक चद न सूर।
रात दिवस की गम नहीं जह ब्रह्म रहा भरपूर॥

उपनिषद् भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ ऐसी ही बातें करता है।[1] अपनी एक साखी में कबीर ने बताया है कि उन्मनी में लगा हुआ मन उस गगन (सहस्रार) में आ पहुँचा है जहाँ चाँद के बिना ही चाँदनी छाई हुई है और अलख निरंजन राइ का जहाँ शासन है।[2]

योगशिखोपनिषत् की राय है कि चूँकि मन ही पापों में लिप्त होता है, सारे कर्म मन से ही उपजते हैं लेकिन अगर यह मन उन्मनी में अवस्थित हो जाय तो उसके पाप पुण्य सभी क्षीण हो जाते हैं। दादू ने अपने एक पद में ठीक यही बात कही है।[3]

मन मैला मनहीं स्यू धोइ, उनमनि, लागे निर्मल होइ॥ टेक॥
मनही उपजै विषै विकार, मन ही निर्मल त्रिभुवन सार॥ १॥
मनहीं दुविधा नाना भेद, मनही समझै द्वै परत्र छेद॥ २॥
मनहीं चंचल दहुँ दिसि जाइ, मन ही निश्चल रह्या समाइ॥ ३॥
मनही उपजै अगनि शरीर, मन ही शीतल निर्मल नीर॥ ४॥
मन उपदेसि मनहिं समुझाइ, दादू यहु मन उन्मन लाइ॥

६५—और भी ऐसे अनेक प्रयोग संतों में पदे-पदे मिल जाते हैं। लेकिन एक बात ध्यान देने की है कि इन पदों में कर्ता की अपेक्षा ज्ञातापन अधिक है। लगता है संत उन्मनी की हठयोगी विधि अच्छी तरह जानते हैं। वे जानते हैं कि सात आवरण,[4] सातलोक,[5] सातचक्र,[6] सात मण्डल[7] आदि कितने ही सातों

पाप-पुन्न सुख दुख नहीं जह कोई कर्म न काल॥
जन दरिया जह पड़त है, हीरों की टकसाल॥ ३॥
संत सुधासार, सं० वियोगीहरि, खंड २, पृ० १०८।

१—नादबिन्दूपनिषद्, ५३-५४।

२—कबीर ग्रन्थावली, साखी ८, पृ० १६७।

मन लागा उनमन्न सों गगन पहूँचा जाइ।
चाँद बिहूना चाँदना, तहाँ अलख निरंजन राइ॥

३—दादू, पद ३८८, पृ० ६६७।

४—माया, अहंकार और पंचभूत।

५—भू, भुवः, स्वः, तपः, जनः, महः और सत्यलोक ये ही संतों के सप्तलोक या सात पुरियाँ हैं।

६—दे० षट्चक्र पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, संस्करण २, पृ. ८४३

७—सातलोक, सातधातु; देह; इन्द्रिय, मन; प्राण, बुद्धि, अज्ञान, तथा जीव—ये सात एवं अन्य अनेक सात।

को वेधकर तब आठवें में प्रवेश हो पाता है और प्रिय का भेदभाव हीन सयोग मिलता है।[1] पर इससे यह नहीं लगता कि संत यह सब करते भी थे। एक उदाहरण लिया जा सकता है। कबीर अपने एक पद में कहते हैं—[2]

अवधू मेरा मन मतिवारा
उनमनि चढा गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुआ भौ भाठी मन धन धारा।
सुखमनि नारी सहज समानी पीवै पीवन हारा॥ १॥
दुइ पुर जोरि रसाई भाठी चुआ महारसु भारी।
काम क्रोध दुइ किए छूटि बलीता गई संसारी॥ २॥
सहजि सुन्नि में जिन रस चाखा सतिगुर तैं सुधिपाई।
दासु कबीर तासु मद माता उछकि न कबहूँ जाई॥ ३॥

उक्त पद में कबीर ने उन्मनी में चढे हुए अपने मतवाले मन की जो हालत बताई है नाथ-योगी के मन की हालत भी उन्मनी में पहुँच कर ऐसी ही होती है। वह भी दोनों नासापुटों से निरन्तर प्रवाहित होने वाले प्राणापान को इड़ा-पिंगला का मार्ग बन्द करके कुम्भक द्वारा अन्तर्मुखी बनाता है और उन्हें (प्राणापान को) सुषुम्ना मार्ग में प्रविष्ट कराता है। इस प्रकार सुषुप्त सुषुम्ना जागकर सहज में समा जाती है, मन मग्न हो जाता है, अनन्त प्रभा मे त्रिभुवन प्रकाशित हो उठता है। इड़ा पिंगला (दोइपुर) के सयोग से जो महारस स्रवित होता है वह नाथ योगी का परम काम्य है। अत कबीर की उन्मनी बाहर बाहर से एकदम नाथयोगी की उन्मनी जैसी ही है। पर बाहर-बाहर से ही। भीतर घुस कर देखने में लगता है कि यह रूप और प्रभाव में एक जैसी होकर भी तत्वत भिन्न है। अवधू की उन्मनी आचारजन्य होती है। वह प्राणायाम साधकर उसे पाता है। कबीर की उन्मनी वैचारिक भी है, जानी-समझी भी गई है। वह ज्ञान के गुड़, ध्यान के महुए और ससार की दाहकता के योग से निष्पन्न महारस है। सत केवल ध्यान द्वारा प्राप्त की गई उन्मनी के प्रति आस्थाशील नहीं है। वे ध्यान के साथ ज्ञान और अनुभव को भी महत्व देते हैं। अत कबीर की उन्मनी भी केवल ध्यान से उद्भूत उन्मनी की तरह क्षणस्थायी नहीं है।

१—दादू निरन्तर पिव पाइया, तह पखी उनमन जाइ,
सप्तौ मडल भेदिया अष्टै रहा समाइ॥ दादू, साखी २, पृ० ८४।

२—कबीरग्रन्थावली, पद ५६, पृ० ३२।

६६—केवल ध्यान से प्राप्त उन्मनी पर उन्हें पूरा सन्देह है। कबीर की एतत्सबन्धी धारणा को उनके एक सशय से जाना जा सकता है। वे कहते हैं—

सतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया सबद जुकहा समाई।
एहि ससार मोहिं निस दिन व्यापै कोइ न कहै समुझाई॥ टेक॥
नहीं ब्रह्माण्ड पिण्ड पुनि नाहीं पच तत्त भी नाहीं।
इला-पिंगला सुखमनि नाहीं ए गुण कहा समाहीं॥ १॥
नहीं गृहद्वार कछू नहि तहिया रचनहार पुनि नाहीं।
जोड़न हारा सदा अतीता इह कहिये किसु माहीं॥ २॥
टूटै बधै बधै पुनि टूटै; जबतब होइ बिनासा॥
काको ठाकुर काको सेवग को काको बिसवासा॥ ३॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै जौ धागा उनमाना।
सीखें सुनें पढ़ें का होई जौ नहिं पदहिं समाना॥ ४॥

साफ है कि 'जब तब बिनसने वाली तथा स्वामी-सेवक में नितान्त अभेद पैदा करने वाली अवधू की उन्मनी कबीर के अनुकूल नहीं थी। वे ऐसी उन्मनी चाहते थे जो कभी न टूटे, जिससे स्वामी-सेवक लय न होकर विलय हों—अर्थात् वे मिलें पर एक होकर भी उनका अस्तित्व अलग-अलग हो। आँख कान मूँदकर पाई जाने वाली उन्मनी ऐसी हो नहीं सकती अतः कबीर उस उन्मनी की बात करते हैं जो न तो 'जबतब विनष्ट' होती हो और न स्वामी-सेवक के भेद को मिटाती ही हो। यह तभी सभव है जब उन परमप्रिय ने इस धागे को मान लिया (उनमाना) हो उसी अवस्था में गगन का विनाश नहीं होता और उन्मनी सदा स्थिर रहती है। ऐसी उन्मनी को स्वायत्त करनेवाला योगी न हँसता है, और न बोलता है, चांचल्य धर्मी हर तत्व को दबाकर वश में कर लेता है।[1] फिर तो उसका मन उन्मनी से लग जाता है और उन्मनी उसके मन से लग जाती या शायद उसका मन उस परम प्रिय के मन से लग जाता है और उस परम प्रिय का मन उसके मन से आ जुड़ता है। इस परस्पर मिलन में भक्त और भगवान्, स्वामी और सेवक, ब्रह्म और जीव का जो ऐक्य होता है वह अभेद में भी भेद को भेद को बनाये रखता है। पानी और नमक के घोल जैसा सभेद ऐक्य, जहाँ पानी का पानी-पन और लवण का लावण्य दोनों बचा

१—कबीर ग्रन्थावली साखी २२, पृ० १३८
हसै न बोलै उन्मनी चचल मेल्हा मारि।
कहै कबीर भीतरी भिदा सतगुर कै हथियार।

को बेधकर तब आठवें में प्रवेश हो पाता है और प्रिय का भेदभाव हीन सयोग मिलता है।[1] पर इससे यह नहीं लगता कि सत यह सब करते भी थे। एक उदाहरण लिया जा सकता है। कबीर अपने एक पद में कहते हैं–[2]

अवधू मेरा मन मतिवारा
उनमनि चढा गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुआ भौ भाठी मन धन धारा।
सुखमनि नारी सहज समानी पीवै पीवन हारा॥ १॥
दुइ पुर जोरि रसाई भाठी चुआ महारसु भारी।
काम क्रोध दुइ किए छूटि बलीता गई संसारी॥ २॥
सहजि सुन्नि में जिन रस चाखा सतिगुर तै सुधिपाई।
दासु कबीर तासु मद माता उछकि न कबहूं जाई॥ ३॥

उक्त पद में कबीर ने उन्मनी में चढे हुए अपने मतवाले मन की जो हालत बताई है नाथ योगी के मन की हालत भी उन्मनी में पहुँच कर ऐसी ही होती है। वह भी दोनों नासापुटों से निरन्तर प्रवाहित होने वाले प्राणापान को इड़ा-पिंगला का मार्ग बन्द करके कुम्भक द्वारा अन्तर्मुखी बनाता है और उन्हें (प्राणापान को) सुषुम्ना मार्ग में प्रविष्ट कराता है। इस प्रकार सुषुत सुषुम्ना जागकर सहज में समा जाती है, मन मग्न हो जाता है, अनन्त प्रभा मे त्रिभुवन प्रकाशित हो उठता है। इड़ा पिंगला (दोइपुर) के सयोग से जो महारस स्रवित होता है वह नाथ योगी का परम काम्य है। अतः कबीर की उन्मनी बाहर बाहर से एकदम नाथयोगी की उन्मनी जैसी ही है। पर बाहर-बाहर से ही। भीतर घुस कर देखने में लगता है कि यह रूप और प्रभाव में एक जैसी होकर भी तत्वतः भिन्न है। अवधू की उन्मनी आचारजन्य होती है। वह प्राणायाम साधकर उसे पाता है। कबीर की उन्मनी वैचारिक भी है, जानी-समझी भी गई है। वह ज्ञान के गुड़, ध्यान के महुए और ससार की दाहकता के योग से निष्पन्न महारस है। सत केवल ध्यान द्वारा प्राप्त की गई उन्मनी के प्रति आस्थाशील नहीं है। वे ध्यान के साथ ज्ञान और अनुभव को भी महत्व देते हैं। अतः कबीर की उन्मनी भी केवल ध्यान से उद्भूत उन्मनी की तरह क्षणस्थायी नहीं है।

१—दादू निरन्तर पिव पाइया, तह पखी उनमन जाइ,
सप्तौ मडल भेदिया अष्टै रहा समाइ॥ दादू, साखी २, पृ० ८८।

२—कबीरग्रन्थावली, पद ५६, पृ० ३२।

६६—केवल ध्यान से प्राप्त उन्मनी पर उन्हें पूरा सन्देह है। कबीर की एतत्सबन्धी धारणा को उनके एक सशय से जाना जा सकता है। वे कहते हैं—

सतो धागा टूटा गगन बिनसि गया सबद जुकहा समाई।
एहि संसार मोहिं निस दिन ब्यापै कोइ न कहै समुझाई ॥ टेक ॥
नहीं ब्रह्माण्ड पिण्ड पुनि नाहीं पच तत्त भी नाहीं।
इला-पिंगला सुखमनि नाहीं ए गुण कहा समाहीं ॥ १ ॥
नहीं गृहद्वार कछू नहि तहिया रचनहार पुनि नाहीं।
जोड़न हारा सदा अतीता इह कहिये किसु माहीं ॥ २ ॥
टूटै वधै वधै पुनि टूटैं जबतब होइ बिनासा ॥
काको ठाकुर काको सेवग को काको बिसवासा ॥ ३ ॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै जौ धागा उनमाना।
सीखें सुनें पढ़ें का होई जौ नहिं पदहिं समाना ॥ ४ ॥

साफ है कि 'जब तब बिनसने वाली तथा स्वामी-सेवक में नितान्त अभेद पैदा करने वाली अवधू की उन्मनी कबीर के अनुकूल नहीं थी। वे ऐसी उन्मनी चाहते थे जो कभी न टूटे, जिससे स्वामी-सेवक लय न होकर विलय हों—अर्थात् वे मिलें पर एक होकर भी उनका अस्तित्व अलग-अलग हो। आँख कान मूँदकर पाई जाने वाली उन्मनी ऐसी हो नहीं सकती अतः कबीर उस उन्मनी की बात करते हैं जो न तो 'जबतब विनष्ट' होती हो और न स्वामी-सेवक के भेद को मिटाती ही हो। यह तभी सभव है जब उन परमप्रिय ने इस धागे को मान लिया (उनमाना) हो उसी अवस्था में गगन का विनाश नहीं होता और उन्मनी सदा स्थिर रहती है। ऐसी उन्मनी को स्वायत्त करनेवाला योगी न हँसता है, और न बोलता है, चांचल्य धर्मी हर तत्व को दबाकर वश में कर लेता है।[1] फिर तो उसका मन उन्मनी से लग जाता है और उन्मनी उसके मन से लग जाती या शायद उसका मन उस परम प्रिय के मन से लग जाता है और उस परम प्रिय का मन उसके मन से आ जुड़ता है। इस परस्पर मिलन में भक्त और भगवान्, स्वामी और सेवक, ब्रह्म और जीव का जो ऐक्य होता है वह अभेद में भी भेद को भेद को बनाये रखता है। पानी और नमक के घोल जैसा सभेद ऐक्य, जहाँ पानी का पानी-पन और लवण का लावण्य दोनों बचा

१—कबीर ग्रन्थावली साखी २२, पृ० १३८
हसै न बोलै उन्मनी चचल मेल्हा मारि।
कहै कबीर भीतरी भिदा सतगुर कै हथियार।

रहता है।[1] सन्तों की उन्मनी यहीं नाथों की उन्मनी से आगे बढ जाती है, उनकी परिभाषा में नहीं अँट पाती ।

स्पष्ट है कि ऐसी उन्मनी की बात योगी नहीं सोचता। किन्तु संत इसी दिशा मे सोचने का प्रस्ताव करता है क्योंकि उसके मन में आसन-पवन की साधना द्वारा प्राप्त की गई उन्मनी के प्रति आस्था नहीं है। वह मानता तो है कि योगी वह है जो उन्मनी का ध्यान धारण करे पर आसन-पवन की साधना से नहीं। सवाल है आसन-पवन को दूर करके उन्मनी का ध्यान लगे कैसे ? योगी नहीं जानता कि मुद्रा और प्राणायाम के बिना उन्मनी कैसे लगेगी पर सत जानते हैं कि उसके बिना भी लग सकती है और वह रीति है राम नाम का जप, भक्ति। कबीर का एक पद इसका साफ सकेत करता है। वे कहते हैं[2]—

आसन पवन दूरि करि बौरा।
छाड़ि कपट नित हरि भजि बौरा ॥

का सींगी मुद्रा चमकाएँ । का बिभूति सब अग लगाएँ ॥ १ ॥
सो हिन्दू सो मुसलमान । जिसका दुरूस रहे ईमान ॥ २ ॥
सो जोगी जो धरै उन्मनी ध्यान । सो ब्रह्मा जो कथै गियान ॥ ३ ॥
कहै कबीर कछु आन न कीजै । रामनाम जपि लाहा लीजै ॥

योग और उससे प्राप्त होने वाली उन्मनी के प्रति भक्ति की अपेक्षा कम आस्था सन्तों में सर्वत्र देखी जाती है। दादू ने अपने एक पद मे कहा है कि भगवान् ! हर प्रयास करके थक गया पर तुम हमसे दूर ही रहे। तुम मन से अगम हो, दृष्टि से अगोचर हो, मनसा भी तुम तक पहुँच नहीं पाती। सुरति मे समा-समाकर बुद्धि थक गई, बल क्षीण हो गया पर वहाँ तक पहुँच नहीं सका। योग, ध्यान और ज्ञान किसी की तुम तक गति नहीं है। तुम तक पहुँचने के लिये मैंने शरीरस्थ प्राणों की साधना द्वारा उन्मनी भी लगाई किन्तु तुम्हारा पार नहीं पा सका। हे भगवान्! अब तो तुम्हारी कथा का ही भरोसा है। जानता हूँ कि जो बड़े भाग्य वाला है उसे ही तुम्हारी दया मिलती है पर इस दया के अतिरिक्त अब मेरे लिये कोई मार्ग नहीं बचा है।[3] सत वाजिद

१—वही साखी ४०, पृ० १७२।
मन लागा उनमन सो उनमन मनहिं बिलगि।
लौन बिलगा पानिया, पानी लौन बिलगि ॥
२—कबीर ग्रन्थावली, पद १७२, पृ० १००।
३—दादू, पद १९८, पृ० ६०८।

जी की राय भी उन्मनी के विषय में ऐसी ही है। परदेशी प्रिय के लिये जोगिन बनकर फकीरी लेने और उन्मनी साधने पर भी उन्हे सफलता हाथ नहीं लगी। उनका कहना है कि प्रिय ऐसे नहीं मिलता। उसे पाने के लिये शरीर की साधना व्यर्थ है। उनकी राय में प्रिय को चित्त में धारण करने, उसी का कथन-श्रवण करने और उसी के चरणों के ध्यान में तल्लीन रहने से ही जीव उस प्रिय को पा सकता है।[१] सन्त को लगता है कि त्रिकुटी का ध्यान और उन्मनी की तारी, अजपाजाप और शून्य का चिन्तन करने मे ही योगी भूला हुआ है और उस 'अपरम्पार पार के पारा' को, जो इन सबसे न्यारा है, नहीं जान पाता।[२] सन्त उसे जानता है। नानक का कहना है कि उन्मनी में रचा हुआ योगी जब त्रिकुटी मे चदोआ तान लेता है तो और कुछ को नहीं जानता। फिर वह 'जन' या भक्त कैसे हो सकता है ? भक्त तो वह तब है जब उन्मनी के ध्यान मे, उन परम प्रिय के मन में रक्त हो जाय। और को न जाने पर एक को तो जाने।[३] और स्पष्ट है कि एक को जानेगा तो ज्ञेय के साथ ज्ञातापन भी बना रहेगा। नानक उस एक को जानने के लिये उन्मुनि को बेकार समझते हों सो बात नहीं बस वे ध्यान की डारी से उद्भूत उन्मुनी की अपेक्षा प्रेम की डोरी से उद्भूत उन्मुनी को महत्व देते हैं।[४] दादू अपने अस्तित्व को मिटाकर उन्मनी साधने की अपेक्षा उस प्रिय का दर्शन पाने के लिये उन्मनी साधने की बात को अधिक महत्व देते हैं और इसके लिये काया आदि की बाहरी साधनाओं की अपेक्षा मन की भीतरी साधना को जरूरी मानते हैं।[५] और इसी लिये जब उनसे प्रश्न पूछा जाता है कौन उणमनी ? तो वे नाथ योगी की

१—सतसुधासार, खण्ड १, पृ० ५५६-५७, ।
विरह कौ अग, पद सख्या ८ और १२, वाजिद जी ।

२—पचग्रन्थी, पृ० १९५-१९६ ।

३—श्री प्राणसगली, पूर्वार्द्ध, प्रथम भाग, पृ० ६४ ।

४—वही, पृ० ७४, प्रेमकी डोरी उन्मुनि होय राता ।

५—जोगिया बैरागी बाबा, रहै अकेला उनमनि लागा ।। टेक ।।
आतम जोगी धीरज कथा, निहचल आसण आगम पथा ।। १ ।।
सहजैमुद्रा अलख अधारी, अनहद सींगी रहणि हमारी ।। २ ।।
काया बनखड पाचौ चेला, ग्यान गुफा में रहै अकेला ।। ३ ।।
दादू दरसन कारनि जागै, निरजन नगरी भिख्या मागै ।। ४ ।।

उन्मनी और उस उन्मनी को पाकर जग से अतीत हो जाने वाले योगी की बात न करके उस व्यक्ति को उन्मनी कहते हैं जिसने आपा या अह को मिटा दिया हो तथा जो भगवान् की भक्ति करता हो, सभी जीवों के प्रति निर्वैरभाव रखता हो, गर्व गुमान, मद-मत्सर को छोड़कर सिरजनहार की सेवा में परमदीन भाव से जुटा रहता हो।[1]

६६—वैसे नाथों और संतों की उन्मनी का परिणाम एक जैसा ही है। नाथों की ही तरह संत भी मानते हैं कि उन्मनी का ध्यान मन पवन जैसे अजेय तत्वों का जीत लेना है,[2] उन्मनी काल का क्षय करके व्यक्ति को आवागमन से मुक्त कर देती है,[3] उन्मनी के ध्यान में रचा हुआ भक्त भगवान् में रचा हुआ रहता है और अगम को पहचान लेता है।[4] इसके द्वारा वह पूर्णसत्य का साक्षात्कार कर लेता है।[5] उसका मन स्थिर हो जाता है[6] और अमरता मिल जाती है।[7] लेकिन नाथ-साधक उन्मनी को जिस प्रकार धारण करता है संत उसे उस प्रकार धारण नहीं करते। हठयोगी काय साधना का समर्थक है संत मन की साधना के। काय-साधना षटचक्र, षोडशाधार, द्विलक्ष्य, व्योम पंचक के जाने और साधे बिना असम्भव है।[8] संतों की उनमनी के लिये इन सब की जरूरत नहीं पड़ती।

१—प्रश्न कौना उनमनी कौन धियान ?—दादू, पद ५५, पृ० ४८९।
उत्तर आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्वैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार॥
आपा गर्व गुमान तजि, मद मछर अहंकार।
गहै गरीबी बंदगी, सेवा सिरजन हार॥ वही, पृ० ४९०।

२—प्राणसंगली, पूर्वार्द्ध, प्रथमभाग, पृ० १३, पद २१।

३—वही, पृ० १४१-४२, पद १४४ तथा पृ० १५०, पद १८२।

४—वही, पृ० ४४, पद ७३।

५—दादू, साखी ३४५, पृ० १५०।

६—वही साखी ५, पृ० १९४ 'जब लागा उनमन सौं तब मन कहीं न जाइ॥

७—वही, साखी, १७ पृ० ४०५।

८—गोरखनाथ का कहना है कि "षट्चक्र षोडशाधार द्विलक्ष्य व्योमपंचकम्। स्वदेहे ये न जानंति कथं सिध्यंति योगिनः।" गोरक्ष पद्धति, १३, पृ० १२। इन पारिभाषिक शब्दों के लिए दे० पैरा ७३-८५.

सन्तों की उन्मनी सतिगुर के हथियार[1] या शब्द बाण की चोट से ही लग जाती है।[2] एसी शब्द बाण से सुरति निरति[3] का परचा होता है अतः सुरति से भी उन्मनी लग जाती है।[4] इसके लिये सन्तों को किसी अतिरिक्त श्रम या खटखट की जरूरत नहीं पड़ती। सद्गुरु हाथ में धनुष लेकर जब तीर मारने लगता है तो प्रेम से मारा गया एक ही तीर सारे अस्तित्व को बेध कर रख देता है[5] और फिर साईं का मिलन, सहज समाधि, उन्मनी सब अनायास हो जाता है। कबीर आँख-कान को मूँद कर शरीर को कष्ट दिये बिना जिस उन्मनी को पाते हैं वह ऐसी ही है।[6] इसके लिये उन्हें घर छोड़ना नहीं पड़ता, वह तो गुरु प्रसाद से घर बैठे बिठाए मिल जाती है। वे कहते हैं—[7]

१—दे० 'हथियार' पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी-साहित्य कोश, भाग १, संस्करण २, पृ० ९६१।

२—कबीर ग्रन्थावली साखी २२, पृ० १३८।

हसै न बोलै उनमुनीं चंचल मेल्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिदा सतगुर कै हथियार॥

दादू, साखी ११, पृ० ३६४।

दादू भुरकीराम है, सबद कहै गुरु ज्ञान।
तिन सबदौं मन मोहिया उनमन लागा ध्यान॥

३—सुरति निरति के लिए दे० आगे पैरा ९८-१०१।

४—दादू, साखी ९७, पृ० ४०१।

तथा 'कबीर' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर वाणी ४०, पृ० २६१-६२।

५—कबीर ग्रन्थावली, साखी २२, पृ० १३८।

६—संतो सहज समाधि भली।

आँख न मूँदूँ कान न रूधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँसि हँसि देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ॥
सबदनिरंतर मनुआँ राता, मलिन बचन को त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी॥
कहै कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि गाई।
सुख दुख से कोई परे परमपद तेहि पद रहा समाई॥

—कबीर, डा० द्विवेदी, कबीर वाणी, पृ० २६२

७—कबीर, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, में संग्रहीत, कबीर वाणी, ४०, पृ० २६१-६२।

अवधू भूले को घर लावै। सो जन हमको भावै॥
घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै॥
घर में जुक्त भुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लखावै॥
सहजसुन्न में रहै समाना, सहज समाधि लगावै॥
उन्मुनि रहै ब्रह्म को चीन्है, परम तत्व को ध्यावै॥
सुरत निरत सों मेला करके, अनहद नाद बजावै॥
घर में बसत बस्तु भी घर है, घर ही बस्तु मिलावै॥
कहै कबीर सुनो हो साधू, ज्यों का त्यों ठहरावै॥

६७—सन्तों की उन्मनी की यह विशिष्टता है कि वह क्रिया प्रधान न होकर ज्ञान प्रधान अधिक है, काय साधना की अपेक्षा मनःसाधना पर अधिक बल देती है, योग की अपेक्षा भक्ति की ओर अधिक उन्मुख है। भक्ति में भगवान् की मनोनुकूलता सब से बड़ी बात है। उस प्रिय को जो भाए वही सुहाग है, जो रुचे वही बड़ी चीज है। योग समाधि, क्रिया-कर्म, जप-तप सब कुछ उसी को केन्द्र करके चलता है। अतः उन्मनी ही उससे अलग होकर कैसे रह सकती थी। सो संतों ने उसे भी उसके अनुकूल बनाया है।

संतों में ध्वनिसाम्य के आधार पर शब्दों में नए अर्थ भरने की प्रवृत्ति अतीव प्रबल है। अलक्ष्य और अलभ्य का अपभ्रंश रूप अलह बनता है। अलह में अल्लाह की ध्वनि आई नहीं कि उन्होंने उसका नाता अल्लाह से जोड़ लिया है। अनाहत से निष्पन्न अनहद को अरबी 'हद्द' से जोड़कर उसे बेहद तक खींच दिया है। भिस्त, करहा, मरजिया, मछरी आदि में इस ध्वनि साम्य के कारण सन्तों ने विलक्षण अर्थों को भरा है।[१] तिनका में तृण के साथ ही 'उनका' या 'उन परमेश्वर का' जैसा अर्थ इस वृत्ति का स्पष्ट निदर्शक है। उन्मनी के 'उनमनि' रूप में उस वृत्ति के दर्शन होते हैं।

अपभ्रंश की 'इँ' विभक्ति तृतीया और सप्तमी (अर्थात् करण और अधिकरण कारक) दोनों में प्रयुक्त होती है। मनोन्मनी के बहुशः प्रयुक्त रूप उन्मनि को अगर उन + मनि करके अलग कर लिया जाय तो अर्थ हो सकता है 'उनके

१—अलह, 'अनहद, भिस्त, करहा, मछरी, तिनका आदि के सन्त-प्रयुक्त अर्थों के लिए दे० मेरी पुस्तक 'शब्द और अर्थ'।

मन मे अर्थात्, 'वे जैसा चाहें उस तरह'।[१] परमात्मा को एकान्त आत्मसमर्पण करने की वृत्ति सतों में अतीव व्यक्त है अतः आचार्य द्विवेदी द्वारा सुझाया गया उन्मनी का यह अर्थ उस दृष्टि से भी नितान्त सगत और उचित लगता है। सतों के प्रयोगों में इस अर्थ की ध्वनि इतनी स्पष्ट है कि उन्मनी के पारिभाषिक रूप से अपरिचित लोग प्रायः यही अर्थ लगाया करते हैं। कबीर जब कहते हैं, 'मन लागा उन्मन्न सो उनमन मनहि बिलगि। लौन बिलगा पानिया, पानी लौन बिलगि[२]', तो उनमन्न से 'उस प्रिय को जैसा अच्छा लगे' 'वह प्रिय जैसा चाहे' वाला अर्थ स्पष्ट ध्वनित होता है क्योंकि वे मानते हैं 'जो मन लागे एक सों तै निरुवारा जाइ[३]'। नानक का यह कथन कि 'उस मन की जो कथा सुनावे तो नानक उवा के चरन धिआवे[४]' या 'उन्मनि ध्यान जन उन सगिराता। नानक उनबिन जन मनि न कहाता[५]', या दादू का यह कहना कि 'थोरे थोरे अटकिए रहेगा ल्योलाइ। जब लागा उनमन सों, तब मन कहीं न जाय[६]' या 'दादू भुरकी राम है सबद कहै गुरुज्ञान। तिन सबदौं मन मोहिया, उनमन लागा ध्यान।[७]' तो इनसे 'उनका मन' जैसा अर्थ स्पष्ट व्यक्त होता है। सतों के साहित्य में उनमनि के इस तरह का अर्थ सकेत देने वाले प्रयोग बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं।

६८—सन्तों में कुछ प्रयोग ऐसे भी मिल जाते हैं जहाँ उनमन या उनमुना को अन्यमनस्क, अनमना, उदासीन जैसे अर्थों मे प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण के लिये कबीर का एक प्रयोग है 'कबीर हरि का भावता दूरहिं तैं दीसन्त।

१—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्मनी के इस अर्थ में समझने का सकेत अपने एक लेख में किया है। दे० 'सतों द्वारा प्रयुक्त शब्दों में नए अर्थदान की क्षमता,' भारतीय साहित्य, आगरा, वर्ष ५, अक १, पृ० १०।

२—कबीर ग्रन्थावली, साखी ४०, पृ० १७२,।

३—वही, साखी ३, पृ० १७५।

४—श्री प्राणसगली पूर्वार्द्ध भाग १ पृ० ७३।

५—वही, पृ० ६४।

६—दादू, साखी ५, पृ० १९४।

७—वही, साखी २१, पृ० ३६४।

तनखीना मन उनमुना, जगि रूठड़ा फिरन्त' ॥[1] 'इसी प्रकार प्रिय-विरह से पीड़ित आत्मा रूपी विरहिणी की स्थिति बताते हुए वाजिद जी का एक प्रयोग है।

मोरकरत अति सोर चमकि रही बीजरी।
जाको पीव बिदेस ताहि कहा तीजरी॥
बदन मलिन मन सोच खान नहिं खातिरी॥
हरि हा, वाजिद, अति उनमन तन छीण रहति इह भातिरी॥[2]

इस तरह स्पष्ट है कि सन्तों ने उन्मनी का प्रयोग थोड़े सशोधित रूप में योग की उन्मनी के अर्थ में भी किया है, 'उन परमप्रिय के मनचाहे,' के अर्थ में भी किया है, 'उनके मन मे' के अर्थ में भी किया है और छिटफुट रूप से उनमना, उदासीन आदि के अर्थ में भी किया है।

*

उन्मनी : अर्थ विकास

६९—सन्तों की 'उन्मनी' पर व्यवस्थित विचार अभी नहीं हुआ है।[3] कबीर द्वारा प्रयुक्त उन्मनी को लेकर थोड़ी चर्चाएँ अवश्य हुई हैं पर वे भी कबीर के एतत्सबन्धी समस्त प्रयोगों को ध्यान में रखकर नहीं हुई हैं। कभी किसी एक प्रयोग को लेकर,[4] तो कभी दो-चार प्रयोगों के आधार पर[5] की गई चर्चाएँ और बहसें अधूरी होने को विवश हैं। यह उनका दोष नहीं पर उनकी सीमा अवश्य है और इसके कारण उन्मनी के सम्बन्ध मे कुछ भ्रम

१—कबीर ग्रन्थावली साखी, २६, पृ० १५६।

२—सत सुधासार, खण्ड १, पृ० ५५५, ५, वाजिद जी।

३—इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा की गई समीक्षाएँ सर्वाधिक व्यवस्थित और महत्त्वपूर्ण है। दे० 'कबीर', तथा 'सन्तों द्वारा प्रयुक्त शब्दों में नए अर्थ दान की क्षमता' शीर्षक निबन्ध। इसके लिए उनकी पुस्तक 'सहज-साधना' भी पठनीय है।

४—श्री सगम लाल पाण्डेय,'कबीर की उन्मनी क्या है' ? हिन्दी अनुशीलन, जुलाई-सितम्बर, १९५८ पृ० १५।

५—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ० २३६-३८, तथा नीचे उल्लिखित डॉ० त्रिगुणायत।

भी फैले हैं। उदाहरण के लिए एक विद्वान् ने डॉ० बड़थ्वाल की गवाही पर नाथसिद्धों की उन्मनी को समाधि का समशील कहा है। कबीर को इस सम्बन्ध में 'नाथों का अनुकरण करने वाला' घोषित किया है और उनकी उन्मनी को समाधि या 'एक प्रकार का ध्यान' कहकर समझा-समझाया है।[1] हम पीछे देख आए हैं कि कबीर या अन्य संत नाथों के अनुकर्ता नहीं हैं और न उनकी उन्मनी नाथों की उन्मनी ही है। संतों की एतत्संबन्धी कल्पना बहुत कुछ अपनी है और उसके अपने अर्थ हैं।

७०—इसमें सन्देह नहीं कि नाथों की उन्मनी समाधि की समशील है। बल्कि अधिक सच यह है कि वह समाधि के बाद की, और एतत्सम्बन्धी सर्वोच्च-स्थिति है जहाँ पहुँचकर आहद-अनाहत सारे शब्द (और चूँकि शब्द ही सृष्टि है) अतः समस्त अस्तित्व विलीन हो जाते हैं, बस केवल ब्रह्म या परमानन्द ही अवशिष्ट रहता है और योगी स्वयं ब्रह्म बन जाता है।[2] सन्तों की उन्मनी ऐसी नहीं है।

हम देख आए हैं कि अनेक भौतिक-मानसिक कारणों से सन्त हठयोगियों की उन्मनी को बहुमान नहीं दे सकते थे अतः नहीं दिया है। उनकी उन्मनी नाथों की उन्मनी से सम्बद्ध ही नहीं है, यह मानना कोरा दुराग्रह है[3] लेकिन वह वैसी ही है यह उससे भी अधिक भ्रान्त धारणा है। सन्त योग की उन्मनी को प्रिय से मिलाने में असमर्थ मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में उन्मनी विश्वसनीय साधन नहीं है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये योग में स्वीकृत 'समाधि'[4] को समझना आवश्यक है।

योग सूत्र अभ्यास और वैराग्य को योग अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध[5] का साधन मानता है।[6] यह वैराग्य भी दो प्रकार का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। इनमें से अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ हैं—यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, ऐकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा। सम्प्रज्ञात समाधि इन चार सीढ़ियों

१—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, कबीर की विचारधारा, संस्करण २, पृ० ४०८।

२—दे० नादबिन्दूपनिषत् ४७-५४।

३—दे० हिन्दी अनुशीलन, जुलाई-सितम्बर १९५८ पृ० १-५।

४—'समाधि' की विस्तृत विवृति के लिये दे० 'समाधि' पैरा ६१-७१।

५—योगसूत्र १, २।

६—वही, १, १२।

को पार कर लेने पर लग जाती है। लेकिन यह समाधि सर्वोच्च समाधि नहीं है। इसकी सर्वोच्च अवस्था को योगशास्त्र असम्प्रज्ञात समाधि मानता है जो पर वैराग्य से सम्पन्न होती है। इस पर वैराग्य की अवस्था में द्रष्टापुरुष प्रकृति, बुद्धि आदि समस्त तत्वों से अपने को अतीत समझकर समस्त त्रिगुणात्मक विषयों से वितृष्ण हो जाता है। अपर-वैराग्य से सम्पन्न सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय विषयक चिन्ता बनी रहती है पर परवैराग्य से सम्पन्न असप्रज्ञात समाधि में वह भी समाप्त हो जाती है। इसीलिये योग सूत्र में उसे 'विराम प्रत्ययाभासपूर्वं संस्कार शेषोऽन्य"[1] कहा गया है। समाधि की इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियाँ अवरुद्ध हो गई रहती हैं किन्तु संस्कार फिर भी बचे रहते हैं। लेकिन अगर बहुत दीर्घ काल तक असप्रज्ञात समाधि बनी रहे तो संस्कारों को पुनः जाग्रत करने वाली सामग्री के चिरकालीन अभाव के कारण अवशिष्ट संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं और कैवल्य मिल जाता है।

स्पष्ट है कि योग की समाधि प्राणायाम मात्र से सिद्ध उन्मनी की समशील नहीं है। क्योंकि वह समाधि की तरह दीर्घकाल व्यापी 'पर'-'अपर' वैराग्यजन्य विषयवितृष्ण वृत्ति न होकर कुछ देर के लिये लगाई गई तारी मात्र है जिसके टूटने पर चित्तवृत्तियों के पूरी तरह अनिरुद्ध हो जाने का खतरा बना रहता है। संतों की उन्मनि (=मनोन्मनी, 'उनके मनके अनुसार' या 'उनके मन में' रहना) वस्तुतः सहज समाधि (=भक्ति) की समशील है जिसके लिये आँख-कान को मूँदना-रूँधना नहीं पड़ता और न जिसकी तारी के टूटने का खतरा ही रहता है। कबीर का कहना है —

> संतो सहज समाधि भली।
>
> साईं तें मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अन्त चली॥
>
> आख न मूदू कान न रूधू, कायाकष्ट न धारू।
> खुले नैन मैं हस-हस देखू, सुन्दर रूप निहारू॥
>
> कहू सो नाम सुनूँ सो सुमिरन जो कछु करूं सोपूजा।
> गिरह-उजाड़ एक समलेखू, भाव न राखू दूजा॥
>
> जह जह जाउ सोई परिकरमा, जो कछु करूं सो सेवा।
> जब सोऊं तब करू दण्डवत, पूजूं और न देवा॥

१—वही, १, १८।

सबद निरतर मनुआ राता, मलिन वचन को त्यागी।
ऊठत बैठत कबहु न बिसरै, ऐसी तारी लागी।

कहै कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि भाई॥
सुख-दुख से कोइ परे परमपद तेहि पद रहासमाई।

कबीरवाणी, ४१, 'कबीर' (डा० द्विवेदी) में सग्रहीत।

सन्तों की उन्मनी का यही रूप है जो अपने में नाथों की मनोन्मनी को तो समेट ही लेता है, 'उनके मन मुताबिक,' 'उनके मन में' तथा 'अनमना' जैसे अर्थों का द्योतन भी करता है। साथ ही हठयोगियों की करनी प्रधान उन्मनी को बहुत कुछ भावनात्मक स्तर पर भी ला खड़ा करता है।

४

उन्मनी : सम्बद्ध प्रसंग

[क]

योग-साहित्य के प्रसंग

योग और हठयोग

(१) योग-दर्शन

७१—वेदान्त की अपेक्षा सन्त योग, तत्रापि हठयोग से अधिक परिचित भी थे और निकट भी। परम्परा से वे योगियों से सम्बद्ध थे। जिस कालावधि में सन्तमत का उद्भव हुआ उसके अव्यवहित पूर्व तक हिन्दी-भाषी प्रदेश योगमार्गी साधना का अनुसरण करने वाले शैवादि सम्प्रदायों की क्रीड़ाभूमि था। हिन्दी का तत्कालीन साहित्य इसका गवाह है। सूरदास ने भ्रमरगीत में जिस योगमार्ग की विकटता दिखाकर वैष्णवभक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है[1] उसी अष्टागयोगसाधना को भक्ति का साधन भी बताया है।[2] जायसी तथा अन्य प्रेमाख्यान-

---

१—भ्रमरगीत-प्रसग के सूर ने गोपियों के मुख से योग का जोरदार खण्डन करवाया है।

'ऐ अलि कहा जोग मे नीको।

तजि रसरीति नन्दनन्दन की सिखवत निर्गुन फीको।

या 'फिरि-फिरि कहा सिखावत मौन।

वचन दुसह लागत अलि तेरे ज्यों पजरे पै लौन।

सृङ्गी, मुद्रा, भस्म, त्वचामृत अरु अवरोधन पौन'।

इसमें नाथ योगी का सङ्केत अतीव व्यक्त है।

२—"भक्ति पन्थ भौ जो अनुसरै। सो अष्टाग योग को करै॥

यम नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होय निष्काम॥

प्रत्याहार धारना ध्यान। करैजु छाड़ि वासना आनि॥

क्रमक्रम सो पुनि करे समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि॥"

कारों की कृतियों से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय योगियों का मार्ग भी सर्वाधिक प्रचलित था। भक्तिवाद के पूर्व निश्चय ही यह सबसे प्रबल मतवाद था जिसपर वैष्णवमत को विजय पाना था।

सन्तों के भौतिक-मानसिक परिवेश की समीक्षा से पता चलता है कि कतिपय—या प्रायः सभी सन्त आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त हीन जातियों, वर्गों और कुलों से सम्बद्ध थे और उनके मानस संस्कार शैवों-बौद्धों के अधिक निकट थे। तत्काल प्रचलित सभी हिन्दू बौद्ध साधनाओं के मूल में योग के सिद्धान्त समानतया से वर्तमान थे। सतों की तर्कशैली, युक्तियों एव भाषा पर योग की प्रभाव-छाया स्पष्ट है। योग की शब्दावली का सन्तों ने पर्याप्त मात्रा में व्यवहार किया है। पर जैसा हम देखेंगे कि सतों ने उन शब्दों का प्रयोग अपने विशिष्ट अर्थों में किया है। उन अर्थों की विशिष्टता को समझने के लिये योग को समझना आवश्यक है।

७२—'युज्' धातु से व्युत्पन्न 'योग' शब्द का सामान्य अर्थ है 'सम्बन्ध'। सामान्य प्रसंग में 'योग वियोग' का अर्थ 'सम्बन्ध-असम्बन्ध' होता है। दर्शन [illegible] और [illegible] के सम्बन्ध या उस सम्बन्ध को प्राप्त करने के उपाय को 'योग' कहा गया है। [illegible], पारिभाषिक अर्थ में योग 'चित्तवृत्तियों के [illegible]'।

महत्व दिया गया है। बुद्ध ने भी बोधि प्राप्ति के पूर्व ६ वर्षों तक योग-साधना की थी। बौद्ध-ग्रन्थ भी योगांगों के महत्त्व को स्वीकारने मे किसी से पीछे नहीं हैं। न्याय मूलत. प्रमाणमीमांसा या ज्ञानवाद से सम्बद्ध होने पर भी योग-साधना की चर्चा करता है। न्यायसूत्र तथा वैशेषिक सूत्र में योग का बार-बार समर्थन किया गया है। वेदान्त सूत्र या ब्रह्मसूत्र का द्वितीय अध्याय सीधे सीधे 'साधना' पर केन्द्रित है और योग-स्वीकृत ध्यान, आसन आदि की चर्चा करता है। महर्षि पतजलि ने 'योगसूत्र' द्वारा योग को साख्य के साथ घनेभाव से सबद्ध कर ही दिया है और इतनी कुशलता से सम्बद्ध किया है कि आगे चलकर योग को 'सेश्वर साख्य' कहा और माना जाने लगा है। विद्वानों ने लक्ष किया है कि योगसूत्र के हर अध्याय या पाद के अन्त मे 'इति योगसूत्रे साख्य प्रवचने' से स्पष्ट पता चलता है कि पतजलि के समय में योग के साख्य-प्रवचन के अतिरिक्त भी अन्य अनेक प्रवचन थे।[1] योग की पतञ्जलि द्वारा स्थापित साख्य-सगति[2] तथा योग में ईश्वर की मान्यता—दोनों अधूरी हैं, इसे भी विद्वानों ने अनुभव किया है।[3] खैर जो हो इतना स्पष्ट है कि विभिन्न धर्मों एवं साधनापद्धतियों मे स्वीकृत आचरित होकर योग अनेक रूप ग्रहण करता रहा है। शैव-शाक्त सिद्धान्तों के अनुरूप विकसित होने वाली हठयोगी साधना-पद्धति और इस पद्धति को बहुत दूर तक प्रभावित करने वाली रसेश्वर साधना योग की ऐसी ही परिणतियाँ हैं जो सतों के उद्भव के पूर्व हिन्दी-भाषी प्रदेश में पर्याप्त प्रचलित रही हैं और संतों को दायरूप में प्राप्त हुई हैं।

७२—विद्वानो का विश्वास है कि अपने मूल रूप में योग कतिपय ऐसी क्रिया-प्रधान साधनाओं से सम्बद्ध था जिनके आचरण से आधिभौतिक या अतिप्राकृतिक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती थीं और यह कि वह दर्शन, तत्त्ववाद या कथनी की अपेक्षा आचार या करनी ही अधिक था।[4] विभिन्न मतवादों में स्वीकृत इन्हीं करनियों या आचारों को सग्रह करके पतजिल ने उन्हें व्यवस्थित

१—सुखलालजी सघवी, दर्शन और चिन्तन, जिल्द १, पृ० २५१-५२।

२—देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, इण्डियन फिलासफी, १९६४, पृ० १२०।

३—आर० गार्बे, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, जिल्द १२, पृ० ८३१-३२।

४—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी' मध्यकालीन धर्म साधना, १९५६, पृ० ७०। डॉ० चट्टोपाध्याय योग को शुद्ध करनी मानते हैं। 'दर्शन' वह बाद में बना, सभवत पतंजलि के हाथों, दे० इण्डियन फिलासफी, १९६४, पृ० ११७।

किया था और ऐसी अनेक धारणाओं को जो योग से सम्बद्ध थीं या सम्बद्ध की जा सकती थीं एक सूत्रता दी थी।[1]

पतञ्जलिने योगसूत्रमे आठ योगागोंका उल्लेख किया है–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[2] इनमे से प्रथम पाँच का चूँकि कार्यसिद्धि से बाहरी सम्बन्ध है अत. उन्हें 'बहिरग साधन' कहा है और कार्यसिद्धि से सीधे रूप से सम्बद्ध होने के कारण अन्तिम तीन को अन्तरग साधना।[3] इन तीन अंतरग साधनों को पतञ्जलि ने एक सज्ञा दी है सयम[4] क्योंकि ये परस्पर एक होकर ही सिद्धिप्रद हो सकते हैं। एक ही धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि न तो सिद्धि ही हो सकती है न योग ही। अनेक विषयों में लगे हुए चित्त को ध्येय-विषय पर केन्द्रित करना ही धारणा है।[5] ध्येय विषयक प्रत्यय की एकतानता अर्थात् ध्येय विषय की एकाकार चिन्ता ही ध्यान है।[6] ध्यान के चरमोत्कर्ष का नाम समाधि है। जब ध्यान निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप शून्य-सा होकर ध्येयविषय की ही ख्याति या स्थिति अनुभव करता है तो उसे समाधि कहते हैं।[7] उक्त बहिरग और अन्तरग साधनों से जो समाधि सम्पन्न होती है वह सम्प्रज्ञात कहलाती है। उक्त आठ योगाग और संप्रज्ञात समाधि से असम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होती है अतः यहाँ आकर अतरग भी बहिरंग सा न हो जाते हैं।[8]

७८—सम्पूर्ण योगदर्शन को पतञ्जलि ने चार विभागों में बाँटा है—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। 'हेय' का सामान्य अर्थ है त्याज्य। पतञ्जलि के अनुसार 'परिणाम, ताप, सस्कार, नाम' त्रिविध दुःख, तथा गुणों और वृत्तियों

१—दासगुप्त, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, वाल्यूम १, पृ० २२८-२९।

२—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावगानि।
योगसूत्र २,२९

३—त्रयमेकत्र सयम — वही, ३, ४।

४—त्रयमन्तरगपूर्वेभ्यः—वही ३, ७

५—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा—वही, पृ० ३, १

६—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—वही ३, २

७—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि—वही ३।३, विस्तृत विवरण के लिये देखिए 'समाधि'

८—तदपि बहिरग निर्बीजस्य—वही ३, ८।

के आपसी विरोध के कारण, विवेकशील व्यक्ति के लिये हर वस्तु दुःखपूर्ण है।[1] भूतकाल में व्यक्ति जिन दुःखों को भोग चुका है, उन्हें त्यागने का सवाल ही नहीं उठता। वर्तमान काल में जो दुःख भोगे जा रहे हैं, उन्हें त्यागना भी कठिन है। इसीलिए पतंजलि का मत है कि वैसे तो उक्त दुःख एवं दुःखजनक पदार्थ भी हेय हैं पर भविष्य में आने वाले दुःख ही सच्चे अर्थों में हेय हैं।[2] इन हेय (दुःखों) का कारण या 'हेयहेतु' अविद्या है।[3] सूत्रकार के शब्दों में 'द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही 'हेय हेतु' है"।[4] 'मैं अमुक वस्तु या विषय का ज्ञाता हूँ, इस तरह का भाव अविद्या या माया है। उसको उपशमित या उन्मूलित करना ही 'हान' है।[5] चूँकि द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय हेतु (अविद्या) है अतः इसके नाश के लिये इनके संयोग को तोड़ देना आवश्यक है। पतञ्जलि ने इसी संयोग—विच्छेद या सयोगाभाव को 'हान'[6] कहा है। यह हान ही कैवल्य है। इस हान की उपलब्धि का साधन विवेकख्याति या 'हानोपाय' है। इसी के द्वारा आत्मा और अनात्मा का ठीक-ठीक पार्थक्य अनुभूत होता है और अविद्या निर्मूल होती है। इस प्रकार दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय हैं, अविद्या हेयहेतु है, उसका त्याग या उच्छेद हान है जो कैवल्य का दूसरा नाम भी है। कैवल्य या हान की उपलब्धि का उपाय (हानोपाय) है अविप्लवा विवेकख्याति।[7]

७५—स्पष्ट है कि योगतत्व की उक्त विवृति सहज बोधगम्य नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान ठीक है कि इस प्रकार का प्रयत्न बुद्धिजीवियों अभिजात लोगों की स्वीकृति पाने के उद्देश्य से किया गया

१—परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाश्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
—वही २, १५।

२—हेय दुःखमनागतम्—वही, २, १६।

३—तस्य हेतुरविद्या— वही, २, २४।

४—द्रष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः—योगसूत्र २, १७।

५—अध्यात्मरामायण (उत्तरकाण्ड ५, ९) में कहा गया है—
'अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।' अर्थात् अज्ञान ही इस (संसार) का मूलकारण है और इस अज्ञान का हान (त्याग या नाश) ही इससे मुक्ति का उपाय है।

६—तदभावात्सयोगाभावो हान तद् दृशेः कैवल्यम्—योगसूत्र २, २५।

७—विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः—वही, २, २६।

होता है।[1] इस प्रसंग में श्री गार्बे का यह अनुमान भी काफी सगत है कि कतिपय क्रिया-प्रधान साधनाओं से सम्बद्ध मूल योग एव अनीश्वरवादी साख्य में ईश्वर तत्व को मिलाने का पतंजलिकृत प्रयास ईश्वरवादी अभिजात वर्गों को सतुष्ट करने और इस प्रकार साख्य के जगत् सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से परिचालित है। मूल योग में ईश्वर की कोई स्थिति नहीं थी, यह बात इतने से ही स्पष्ट हो जाती है कि योगसूत्र में ईश्वर को स्थापित करने के लिये कल्पित प्रसंग परस्पर असंबद्ध हैं और योग की मूल धारणा के एकदम विपरीत पड़ते हैं। यहाँ ईश्वर न तो जगत् का स्रष्टा है न नियामक। वह न कर्मों के लिये दण्ड देता है न पुरस्कार, और न योगी उसके सयोग को अपनी साधना का चरमप्राप्तव्य ही मानता है। जिसे हम ईश्वर कहते हैं योग सूत्र का ईश्वर उस अर्थ में ईश्वर है ही नहीं। स्पष्ट है कि ईश्वर को इसमें घुसेड़ने का प्रयास आस्तिकों को रिझाने या सतुष्ट करने के लिये है[2] और जैसा हमने आचार्य द्विवेदी के अनुमान का समर्थन करते हुए देखा है कि ये आस्तिक मूलतः बुद्धिजीवी और अभिजात वर्ग से सम्बद्ध होंगे क्योंकि क्रिया-प्रधान योग को दर्शन की दुरूहता देकर उन्हीं वर्गों को आकृष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिजातवर्ग की स्वीकृति के लिये ही योग को पतजलि ने व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया और उसे करनी से अलग करके कथनी बनने की दिशा में अग्रसर किया।

लेकिन कम बौद्धिकवृत्ति के सामान्य लोगों में फिर भी योग की मूल क्रिया-परायण साधनाएँ चलती रहीं। तन्त्रों की योगसाधना ऐसी ही लोक-प्रचलित साधनाओं से सम्बद्ध है। तन्त्रों से विकसित होनेवाले विभिन्न हिन्दू-बौद्ध सहजिया सम्प्रदायों में हठयोग की काय-साधना का बहुमान इसका प्रमाण है। मन या चित्तवृत्तियों के निरोध को लक्ष्यमान कर चलनेवाले पतजलि ने यद्यपि हठयोग को गौण स्थान दिया है किन्तु वे उसे पूरी तरह अस्वीकार नहीं कर सके हैं और 'विभूतिपाद' नामक तीसरे प्रकरण में उन्होंने हठयोग द्वारा प्राप्य अणिमादि सिद्धियों[3] तथा रूप, लावण्य, बल एव वज्र के समान शरीर की सम्पूर्ण अभेद्यता[4]

१—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ७१

२—आर० गार्बे, इन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, ज़िल्द १२, पृ० ८३१–३२।

३—ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।—योगसूत्र ३, ४५।

४—रूपलावण्य वज्र सहननत्वानि कायसम्पत्।—वही, ३, ४६।

सम्बन्धी सिद्धियों का उल्लेख किया है। सामान्य लोगों के शास्त्रों अर्थात् आगमों और तंत्रों में कायसाधना को प्रमुखता देनेवाले हठयोग के सहारे प्राप्य या प्राप्त अनन्त विलक्षण सिद्धियों के विवरण व्याख्यान प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। प्रकट है कि लोक-जीवन में योग का क्रिया-प्रधान रूप निरन्तर चलता रहा है और गुरु-शिष्य की परम्परा के रूप में तथा साधनापरक सिद्धान्त-ग्रन्थों में इस व्यावहारिक योग को सुरक्षित रखा गया है। आगे चलकर संस्कृत के जन सम्पर्क से दूर हट जाने पर उन्हें देशी भाषाओं के माध्यम से प्रकाशित भी किया गया है। देशी भाषाओं में प्राप्त नाथ-साहित्य इसी कोटि का साहित्य है।

(२) हठयोग

७६—नाथपंथ की साधना-पद्धति का नाम हठयोग है। नाथों ने इसे 'उल्टा साधना' कहा है। कायसिद्धि द्वारा योगदेह, दिव्यदेह या जीवन्मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली यह कायसाधना दो अर्थों में उल्टी है। एक अर्थ में शरीर और मन की अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी बनाने की साधना होने के कारण, और दूसरे अर्थ में साधक को दिव्यदेह देकर उसके आदि एवं अमर्त्य स्वरूप तक पहुँचाने और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त करने के कारण।

नाथमत 'एक' आदिसत्ता में आस्था रखने वाला सम्प्रदाय है। नाथों के अनुसार इस आदिसत्ता या परशिव के दो संयोजक तत्त्व हैं—शिव और शक्ति। इनमें से शिव स्थिर, निवृत्तिमूलक और स्वस्थ (आत्मस्थ) है, और शक्ति गतिशील, प्रवृत्तिमूलक और परिवर्तमान। शिव भोक्ता है और शक्ति भोग्या। इनका पार्थक्य या द्वैत संसार का कारण है और इनका संयोग या सामरस्य निर्वाण, मोक्ष, जीवन्मुक्ति या दिव्य देह का दाता है। यह सामरस्य योग द्वारा सम्भव है। हठयोग में इसी शक्ति को कुण्डलिनी या महाकुण्डलिनी कहा जाता है।

सभी योगि-सम्प्रदाय मानते हैं कि जो ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ इस पिण्ड में भी है। अतः समस्त सृष्टि में शक्ति रूप में व्याप्त महाकुण्डलिनी ही पिण्ड में व्यक्त होने पर कुण्डलिनी कही जाती है। हठयोगी मानते हैं कि नाभि के नीचे भाग में शक्ति और ऊपर के भाग में शिव का अधिवास है अतः वे इन्हें क्रमशः प्रवृत्तिलोक और निवृत्ति लोक भी कहते हैं। हठयोग की साधना द्वारा प्रवृत्ति लोक में अवस्थित कुण्डलिनी को उसकी अधोमुखी सुषुप्त अवस्था से जगाकर

होता है।[1] इस प्रसंग में श्री गार्बे का यह अनुमान भी काफी सगत है कि कतिपय क्रिया-प्रधान साधनाओं से सम्बद्ध मूल योग एव अनीश्वरवादी साख्य में ईश्वर तत्व को मिलाने का पतञ्जलिकृत प्रयास ईश्वरवादी अभिजात वर्गों को सतुष्ट करने और इस प्रकार साख्य के जगत् सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से परिचालित है। मूल योग में ईश्वर की कोई स्थिति नहीं थी, यह बात इतने से ही स्पष्ट हो जाती है कि योगसूत्र में ईश्वर को स्थापित करने के लिये कल्पित प्रसंग परस्पर असंबद्ध हैं और योग की मूल धारणा के एकदम विपरीत पड़ते हैं। यहाँ ईश्वर न तो जगत् का स्रष्टा है न नियामक। वह न कर्मों के लिये दण्ड देता है न पुरस्कार, और न योगी उसके संयोग को अपनी साधना का चरमप्राप्तव्य ही मानता है। जिसे हम ईश्वर कहते हैं योग सूत्र का ईश्वर उस अर्थ में ईश्वर है ही नहीं। स्पष्ट है कि ईश्वर को इसमें घुसेड़ने का प्रयास आस्तिकों को रिझाने या सतुष्ट करने के लिये है[2] और जैसा हमने आचार्य द्विवेदी के अनुमान का समर्थन करते हुए देखा है कि ये आस्तिक मूलतः बुद्धिजीवी और अभिजात वर्ग से सम्बद्ध होंगे क्योंकि क्रिया-प्रधान योग को दर्शन की दुरूहता देकर उन्हीं वर्गों को आकृष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिजातवर्ग की स्वीकृति के लिये ही योग को पतञ्जलि ने व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया और उसे करनी से अलग करके कथनी बनने की दिशा में अग्रसर किया।

लेकिन कम बौद्धिकवृत्ति के सामान्य लोगों में फिर भी योग की मूल क्रिया-परायण साधनाएँ चलती रहीं। तन्त्रों की योगसाधना ऐसी ही लोक-प्रचलित साधनाओं से सम्बद्ध है। तन्त्रों से विकसित होनेवाले विभिन्न हिन्दू-बौद्ध सहजिया सम्प्रदायों में हठयोग की काय-साधना का बहुमान इसका प्रमाण है। मन या चित्तवृत्तियों के निरोध को लक्ष्यमान कर चलनेवाले पतञ्जलि ने यद्यपि हठयोग को गौण स्थान दिया है किन्तु वे उसे पूरी तरह अस्वीकार नहीं कर सके हैं और 'विभूतिपाद' नामक तीसरे प्रकरण में उन्होंने हठयोग द्वारा प्राप्य अणिमादि सिद्धियों[3] तथा रूप, लावण्य, बल एव वज्र के समान शरीर की सम्पूर्ण अभेद्यता[4]

१—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ७१

२—आर० गार्बे, इन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, ज़िल्द १२, पृ० ८३१–३२।

३—ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।—योगसूत्र ३, ४५।

४—रूपलावण्य वज्र संहननत्वानि कायसम्पत्।—वही, ३, ४६।

सम्बन्धी सिद्धियों का उल्लेख किया है। सामान्य लोगों के शास्त्रों अर्थात् आगमों और तंत्रों में कायसाधना की प्रमुखता देनेवाले हठयोग के सहारे प्राप्य या प्राप्त अनन्त विलक्षण सिद्धियों के विवरण व्याख्यान प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। प्रकट है कि लोक-जीवन में योग का क्रिया-प्रधान रूप निरन्तर चलता रहा है और गुरु-शिष्य की परम्परा के रूप में तथा साधनापरक सिद्धान्त-ग्रन्थों में इस व्यावहारिक योग को सुरक्षित रखा गया है। आगे चलकर संस्कृत के जन सम्पर्क से दूर हट जाने पर उन्हें देशी भाषाओं के माध्यम से प्रकाशित भी किया गया है। देशी भाषाओं में प्राप्त नाथ-साहित्य इसी कोटि का साहित्य है।

(२) हठयोग

७६—नाथपथ की साधना-पद्धति का नाम हठयोग है। नाथों ने इसे 'उल्टा साधना' कहा है। कायसिद्धि द्वारा योगदेह, दिव्यदेह या जीवन्मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली यह कायसाधना दो अर्थों में उल्टी है। एक अर्थ में शरीर और मन की अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी बनाने की साधना होने के कारण, और दूसरे अर्थ में साधक को दिव्यदेह देकर उसके आदि एव अमर्त्य स्वरूप तक पहुँचाने और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त करने के कारण।

नाथमत 'एक' आदिसत्ता में आस्था रखने वाला सम्प्रदाय है। नाथों के अनुसार इस आदिसत्ता या परशिव के दो सयोजक तत्व हैं—शिव और शक्ति। इनमें से शिव स्थिर, निवृत्तिमूलक और स्वस्थ (आत्मस्थ) है, और शक्ति गतिशील, प्रवृत्तिमूलक और परिवर्तमान। शिव भोक्ता है और शक्ति भोग्या। इनका पार्थक्य या द्वैत ससार का कारण है और इनका सयोग या सामरस्य निर्वाण, मोक्ष, जीवन्मुक्ति या दिव्य देह का दाता है। यह सामरस्य योग द्वारा सम्भव है। हठयोग में इसी शक्ति को कुण्डलिनी या महाकुण्डलिनी कहा जाता है।

सभी योगि-सम्प्रदाय मानते हैं कि जो ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ इस पिण्ड में भी है। अतः समस्त सृष्टि में शक्ति रूप में व्याप्त महाकुण्डलिनी ही पिण्ड में व्यक्त होने पर कुण्डलिनी कही जाती है। हठयोगी मानते हैं कि नाभि के नीचे भाग में शक्ति और ऊपर के भाग मे शिव का अधिवास है अतः वे इन्हें क्रमश. प्रवृत्तिलोक और निवृत्ति लोक भी कहते हैं। हठयोग की साधना द्वारा प्रवृत्ति लोक में अवस्थित कुण्डलिनी को उसकी अधोमुखी सुषुप्त अवस्था से जगाकर

ऊर्ध्वमुखी करना और फिर क्रमशः षट्चक्रों[1] का भेदन करते हुए निवृत्ति लोक के शीर्षस्थानें सहस्रार में अवस्थित शिव से सामरस्य कराना ही नाथ साधक का परम लक्ष्य होता है।

कुण्डलिनी की ठीक-ठीक स्थिति का निर्धारण करते हुए बताया गया है कि पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थ के मध्य भाग में जुड़ता है, वहाँ अग्निचक्र[2] नामक एक त्रिकोण चक्र है। षट्चक्र निरूपण, ५१ की टीका में बताया गया है कि यह त्रिकोण चक्र मूलाधार कमल की कर्णिका में स्थित है। इसी त्रिकोणाकार अग्निचक्र में एक स्वयंभूलिंग[3] है जिसे साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी सोई पड़ी रहती है। जीव की जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न नामक तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी निश्चेष्ट पड़ी रहकर शरीर धारण का काम करती है। इस अधोमुखी कुण्डलिनी को उलटकर ऊर्ध्वमुखी करने के कारण ही हठयोग की साधना 'उल्टा साधना' कहलाती है।

सूर्य और चन्द्र

७७—'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में हठयोग का परिचय देते हुए बताया गया है कि 'हकार : कथित : सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसो योगात् हठयोगो निगद्यते। अर्थात् 'ह' सूर्य को कहते हैं और 'ठ' चन्द्रमा को। इन सूर्य और चन्द्रमा का योग ही 'हठयोग' है।

तत्र और योग-साधना के साहित्य में सूर्य और सोम के बहुशः उल्लेख मिलते हैं और इन्हें विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। नाथ-सिद्धों की काय-साधना और सन्तों के चाँद-सुरुज को समझने के लिए इन पारिभाषिक शब्दों को समझना अनिवार्य है।

गोरखनाथ लिखित बताई जाने वाली 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में कर्म, काम, सूर्य, चन्द्र और अग्नि को प्रत्यक्षकरण अर्थात् भौतिक शरीर के विनिवेशन या सयोजन का कारण बताया गया है।[4] इन पाँच में से प्रथम दो पिण्ड की स्थितियाँ हैं और अन्तिम तीन उसको संयोजित करने वाले मूलतत्त्व। चूँकि सूर्य

१—विस्तृत और व्यवस्थित विवरण के लिये देखिए 'षट्चक्र'।

२—विस्तार के लिये दे० 'अग्निचक्र' पर मेरी टिप्पणी, हिं० साहित्यकोश, भाग १, संस्करण २, पृ० ८।

३—दे० 'स्वयंभूलिंग' पर मेरी टिप्पणी, वही, पृ० ९५७।

४—कर्म कामाश्चन्द्रः सूर्योग्निरिति प्रत्यक्षकरणपंचकम्। सि० सि० पद्धति १,६२।

और अग्नि को सामान्य तथा एक ही माना जाता है अतः अन्तिम तीन में से दो ही बच रहते हैं—सूर्य और चन्द्रमा। चन्द्रमा सोम या रस का प्रतीक है और सूर्य अग्नि का। इन्हीं के योग से देह का निर्माण होता है।[1] सूर्य और अग्नि को पिता का शुक्र और सोम को माँ का रज भी कहा गया है और इन दोनों के संयोग से पिण्ड की उत्पत्ति मानी गई है[2]। इस प्रकार अग्नि और सोम समस्त सृष्टि के आदि तत्व हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में चन्द्रमा की सोलह कलाओं के साथ अमृतकला नाम की एक और कला को मिलाकर सत्रह कलाओं का उल्लेख किया गया है।[3] इसी प्रकार सूर्य की स्वप्रकाशता नामक निज कला को मिलाकर उसकी तेरह कलाओं का उल्लेख उक्त ग्रन्थ में किया गया है।[4] बृहज्जाबालोपनिषद् के द्वितीय ब्राह्मण में सृष्टि-रचना में उक्त-सूर्य-चन्द्र-सिद्धान्त के महत्व की व्याख्या की गई है।

योगि-सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों में भौतिक सृष्टि के नियोजक तत्व—सोम और सूर्य को क्रमशः रचना और पालन तथा परिवर्तन और विनाश का प्रतीक माना गया है।[5] शाश्वतता या अनश्वरता का नियोजक अधोमुखी सोम

१—अग्निसोमात्मको देही विदुर्यद्उभयात्मकः ॥
उक्त सूत्र की टीका में, द्रव्येश झा द्वारा उद्धृत। तथा
अग्निसोमात्कं विश्वमिति अग्निराचक्षते-बृज्जाबालोपनिषद ९, १।

२—किंच सूर्याग्नि रूपं पितुः शुक्रं सोमरूपंच मातृरजः उभयोः सयोगे पिण्डोत्पत्तिः। —द्रव्येश झा की टीका।

३—उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्चलन्ती, उन्मादिनी, तरंगिनी, शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्ति; लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्नता प्लवन्ती एव चन्द्रस्य षोडशकला सप्तदशी कला निर्वृत्तिः सामृताकला।
—सि० सि० पद्धति, १, ६३।

४—तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, अकुचनी, शोषिणी, प्रबोधनी, स्मरा, आकर्षणी, तुष्टिवर्द्धिनी, ऊर्मिरेखा, किरणवती, प्रभावतीति द्वादशकला सूर्यस्य, भयोदशी स्वप्रकाशता निजकला। —वही, १, ६६।

५—कतिपय स्थलों पर सूर्य को कालाग्नि से सम्बद्ध न मानकर मध्य में स्थित बताया गया है—

ऊर्ध्वेतु सस्थितासृष्टिः परमानन्द दायिनी।
पीयूषवृष्टिं वर्षन्ती वैन्दवी परमा कला ॥
अधः संहारकृश्येयो महानग्निः कृतांतकः।
घोरोज्वालावलीयुक्तो दुर्धर्षोज्योतिषा निधिः ॥

शिवलोक[1] अर्थात् सहस्रार में अवस्थित माना जाता है और परिवर्तन तथा विनाश का अधिष्ठाता ऊर्ध्वमुखी सूर्य शक्तिलोक अर्थात् मूलाधार में। इस प्रकार सोम और सूर्य स्पष्टतः शिव और शक्ति से सम्बद्ध हैं। चन्द्रमा अमृतनिधि है और सूर्य कालाग्नि।[2] माना जाता है कि बिन्दु दो प्रकार का होता है पाण्डुरबिन्दु या शुक्र तथा लोहित बिन्दु या रज। ये क्रमशः सोम और सूर्य में अवस्थित रहते हैं। चन्द्रमा में स्थित सूर्य और कुछ नहीं बल्कि शिव ही है और सूर्य में अविस्थत रज, इसी प्रकार शक्ति ही है[3]।

७८--हठयोग की साधना में सोम और सूर्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करके उन्हें संयुक्त करना ही मुख्य उद्देश्य माना जाता है। ऊपर के विवरण में हमने सोम सूर्य की रजवीर्य सम्बन्धी व्याख्या का विवरण दिया है। सूर्य-चन्द्र की और भी कई व्याख्याएँ मिलती हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किन्हीं ब्रह्मानन्द के मत का उल्लेख करते हुए बताया है कि सूर्य से प्राणवायु का तात्पर्य होता है और चन्द्र से अपानवायु का। प्राणायाम द्वारा इन दोनों का निरोध या योग कराना ही 'हठयोग' है[4]। हठयोग प्रदीपिका ३, १५ में एक अन्य व्याख्या

तयोर्मध्ये परा तेज उभयानन्द सुंदरम्।
अन्तरारः स विज्ञेय उभाभ्या व्यापकः शिवः॥
परस्पर समाविष्टो चन्द्रोग्निष्टी टिमेशशी।
चन्द्रस्तृष्टिं विजानीयादग्निः सहार उच्यते॥
अवतारो रवि प्रोक्तो मध्यस्थः परमेश्वरः।
—तन्त्रालोक ३,६७ की टीका में उद्धृत।

१—विस्तार के लिये दे० 'कैलास (२) पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी साहित्यकोश, भाग १ सस्करण २, पृ० २६९।

२—कालाग्नि के लिये दे० 'कालाग्निरुद्र' पर मेरी टिप्पणी, वही, पृ० २४८, तथा नाथसप्रदाय पृ० १७२।

३—सपुनर्द्विविधोबिन्दु, पाण्डुरोलोहितस्तथा।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः॥
नाभिः देशेवसत्येको भास्करोदहनात्मकः॥
अमृतात्मास्थितोनित्य तालुमूले च चन्द्रमाः॥
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्द्धमुखोरविः॥
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते॥—गोरक्षपद्धति, सन् १९५४, पृ० ३५।

४—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२३।

मिलती है जिसके अनुसार सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला-नाड़ी को। इसलिए इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना-मार्ग से प्राण-वायु के सचारित करने को भी 'हठयोग' कहते हैं[1]। ग्रन्थों में इन इड़ा और पिंगला के और भी अनेक नाम मिलते हैं। इड़ा को ललना, चन्द्र, शशिन्, अपान, घमन, आली, नाद, गंगा, शुक्र, तमस, अभाव, निर्माण, प्रकृति, ग्राहक तथा स्वर कहकर बहुधा स्मरण किया जाता है और पिंगला को रसना, सूर्य, रवि, प्राण, चमन, काली, बिन्दु, यमुना, रक्त, रजस, भाव पुरुष, ग्राह्य तथा व्यजन कहकर।[2] इन नाड़ियों को प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध करके सुषुम्नामार्ग से प्रवाहित करना ही सूर्यचन्द्र का सामरस्य है। इस सामरस्य की प्राप्ति के लिए षट्कर्म[3] द्वारा नाड़ी-शोधन आवश्यक है क्योंकि नाड़ियों के शुद्ध होने पर ही सुषुम्नामार्ग साफ होता है, प्राण और मन क्रमशः स्थिर हो जाते हैं और शक्तिरूपा परमेश्वरी कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रारस्थ शिव से सामरस्य प्राप्त कर लेती है और योगी को उसका चरम प्राप्तव्य मिल जाता है। नाड़ी-शुद्ध के बाद प्राणायाम कुण्डलिनी को सुकरतापूर्वक उद्बुद्ध कर सकता है। चूँकि प्राणनिरोध ही कुण्डलिनी के उद्बोध और फिर शिवसामरस्य का हेतु है अतः हठयोग में प्राणायाम या प्राणनिरोध का बहुत अधिक महत्व है।

७९—गोरखनाथ ने हठयोग की साधना के लिये छः चक्र[4] सोलह आधार,[5] दो लक्ष्य[6] तथा व्योमपचक[7] की जानकारी को सिद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक बताते हुए कहा है—षट् चक्र षोडशाधार द्विलक्ष्य व्योम पचकम्। स्वदेहे ये न जानन्ति कथ सिद्ध्यन्ति योगिनः।[8] संक्षेप में शरीरस्थ तीन परम शक्तिपूर्ण तत्व शुक्र, वायु और मन चचल होने के कारण मनुष्य को क्षयधर्मी और बद्ध बनाए रखते हैं हठयोगी मानता है कि इनमें से यदि किसी एक को भी वश मे कर लिया

१—वही।

२—विस्तृत विवरण के लिये दे० इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज़्म, दासगुप्त।

३—दे० षट्कर्म।

४—दे० षट्चक्र।

५—दे० आधार।

६—दे० लक्ष्य।

७—दे० व्योमपचक।

८—गोरक्षपद्धति, प० महीधर शर्मा, १९५४, पृ० १२।

जाय तो दूसरे दो स्वयमेव वश में हो जाते हैं। इनमें से बिन्दु या शुक्र को काफ़ी महत्व दिया गया है। दिव्यदेह, अमरदेह, वज्रदेह या जीवन्मुक्ति के लिये बिन्दु-साधना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सहजोली,[1] वज्रोली[2] जैसी साधनाएँ हठयोग (सूर्य-चन्द्र योग अर्थात् शुक्र-रजयोग) में इसीलिये काफी महत्वपूर्ण हैं।

सोम से क्षरित होने वाले अमृत को खेचरी मुद्रा द्वारा पान करके जीवन्मुक्त होने या वज्रदेह प्राप्त करने की भी एक हठयोगी विधि का विवरण मिलता है।[3]

यही हठयोग की साधना थी जो संतों को परम्परा से प्राप्त हुई थी और उनकी समसामयिक जिन्दगी के सन्दर्भ में अपना अर्थ और महत्व खो चुकी थी। सन्तों ने अपनी साखियों, सबदियों या बानियों में इसी के अर्थहीन अंशों को अस्वीकार किया है और उनके स्थान पर विचार और व्यवहार दोनों स्तरों पर नए आचार-विचार की स्थापना करने का शक्तिशाली प्रयास किया है। संतों द्वारा गृहीत योग के शब्दों का अध्ययन कर सकेगा कि वे योग को किस रूप में स्वीकारते हैं और उस स्वीकृति का तात्पर्य क्या है।

षट्कर्म

८०—हठयोग में कायसाधना पर सर्वाधिक बल दिया गया है। हठयोगी मानता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब का सब सूक्ष्म रूप से पिण्ड में वर्तमान है। इसी शरीर की साधना से मूलाधारस्था कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करके सहस्रार में पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार शिव-शक्ति का सामरस्य स्थापित कर परमानन्द, मोक्ष, दिव्यदेह और जीवन्मुक्ति को पाया जा सकता है।

हठयोग की साधना में सात क्रियाएँ आवश्यक मानी जाती हैं—शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तत्व।[4] ये सिद्धि की ओर अग्रसर होने के क्रमिक सोपान हैं। शोधन इनमें सबसे प्राथमिक क्रिया है और शोधन के लिए षट्कर्म का आचरण अनिवार्य है। योगशास्त्र के अनुसार वात, पित्त एवं कफ के विकारों से ग्रस्त साधक को षट्कर्मों द्वारा शरीर को शुद्ध करना पड़ता है। शोधन के बाद आसनों से दृढ़ता प्राप्त होती है, मुद्राओं से स्थिरता

१—दे० 'सहजोली' पर मेरी टिप्पणी हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, संस्क० २ पृ० ९०१।

२—दे० 'वज्रोली' वही।

३—दे० 'अमरवारुणी' पर मेरी टिप्पणी, वही, पृ० ५३।

४—शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तं च घटस्य सप्त साधनम्॥—घेरण्ड संहिता १, ९

मिलती है, प्रत्याहार से धैर्य मिलता है। प्राणायाम से लाघवता, ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष तथा इन सारे साधनों के द्वारा सम्पन्न होने वाली समाधि मुक्ति प्राप्त होती है।[1]

घेरण्ड संहिता के अनुसार धौती, वस्ती, नेति, लौलिकी (=नौलिकी), त्राटक तथा कपालभाति नामक षट्कर्मों को शरीरशुद्धि के लिए आचरणीय माना गया है।[2]

८१—धौती के लिए विधान है कि चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लम्बे बारीक वस्त्र को (गर्म पानी में) भिगोकर धीरे-धीरे निगल लिया जाय और फिर उसे धीरे-धीरे उगल दिया जाय—यही धौति कर्म है।[3]

घेरण्ड संहिता में अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति तथा मूलशोधन नाम से धौती के चार प्रकार बताए गए हैं[4]। इतना ही नहीं, अन्तर्धौति आदि के भी कई-कई प्रकारों की चर्चा इसमें पूरे विस्तार से की गई है[5]। गोरक्षपद्धति में बताया गया है कि कास, श्वास, प्लीहा, कुष्टादि, विषरोग, बीस प्रकार के कफ रोग इस धौतिक कर्म के प्रभाव से निस्संदेह नष्ट हो जाते हैं[6]।

८२—नाभिपर्यन्त जल में उत्कटासन साधकर छः अंगुल लम्बी तथा अंगुली घुस सकने लायक छेद वाली बाँस की नली को चार अंगुल गुदा में प्रवेश करा के गुदा को आकुंचित करना और इस प्रकार जल को पेट में चलाना तथा उसे पुनः बाहर निकाल देना वस्तिकर्म कहलाता है[7]। प० महीधर शर्मा ने बताया है कि धौति एवं वस्तिकर्म बिना भोजन किये करना चाहिए और इन कर्मों का

१—षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रयास्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ॥ वही, १, १०—११

२—धौतिवस्तिस्तथानेति लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥ वही १, १२

३—चतुरंगुल विस्तार हस्तपंचदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ गोरक्ष पद्धति २, १, पृ० ६०.

४—घेरण्ड संहिता १, १३।

५—वही, १, १३-४५।

६—गोरक्षपद्धति, २, २।

७—वही २, १, पृ० ६१, तथा घेरण्ड संहिता १, ४७।

सम्पादन करके शीघ्र भोजन करना चाहिए। गोरक्षापद्धति के मत से गुल्म, प्लीहा, जलोदर, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न सभी रोग वस्तिकर्म से नष्ट हो जाते हैं[१]। घेरण्डसंहिता में वस्ति के दो प्रकार बताए गए हैं—जल वस्ति और शुष्क वस्ति। हमने जिसे वस्ति कहा है उसे यहाँ जल वस्ति कहा गया है और शुष्कवस्ति के लिए बताया गया है कि पृथ्वी पर पीठ के बल उत्तान होकर सो जाना चाहिए और अश्विनी मुद्रा साधकर गुदा को सिकोड़ने-फैलाने का अभ्यास करना चाहिए। इससे कोष्टदोष नष्ट होते हैं और जठराग्नि तीव्र होती है।[२]

८३—एक बालिश्त मुलायम एवं ग्रन्थि-रहित सूत्र का एक-एक सिरा नाक के एक छेद में डालकर नाक का दूसरा छेद अंगुली से दबा कर बन्द कर ले और फिर साँस को ऊपर खींचे और साँस के साथ सूत जब अन्दर गले में पहुँच जाय तो मुख द्वार से खींची गई साँस को बाहर छोड़ दे। ऐसा करने से सूत मुख मार्ग से बाहर निकल आएगा। इसके बाद सूत के नाक वाले सिरे को एक हाथ से और मुखवाले सिरे को दूसरे हाथ से धीरे-धीरे खींचकर चलाए। सिद्ध लोग इसी क्रिया को नेति कहते हैं।[३] इस क्रिया से कपोल तथा नासिकादिकों के मल दूर होते हैं, सूक्ष्म पदार्थदर्शी दृष्टि मिलती है और कण्ठ के ऊपर के सारे रोग शान्त हो जाते हैं।[४] घेरण्ड संहिता के मत से नेति कर्म द्वारा खेचरी मुद्रा की सिद्धि हो जाती है और कफ के दोष नष्ट हो जाते हैं।[५]

८४—षट्कर्मों का चौथा कर्म नौली या लौली है। दोनों कंधों को झुकाकर पेट को दाएँ तेजी से घुमाने की क्रिया नौली कहलाती है। इससे मंद जठराग्नि तीव्र होती है, वात रोग नष्ट होते हैं और आनन्द की वृद्धि होती है।[६]

८५—षट्कर्मों में पाँचवाँ त्रोटक है। किसी सूक्ष्म वस्तु या विन्दु पर तब तक एकटक देखते रहना जबतक कि आँखों से आँसू न आजाए त्रोटक कहलाता है।[७] घेरण्ड संहिता के मत से त्रोटक द्वारा शाम्भवी मुद्रा सिद्ध होती है, नेत्र

१—गोरक्षपद्धति २, २, पृ० ६१।

२—घेरण्डसंहिता १, ४६–५०।

३—गोरक्षपद्धति, पृ० ६२, तथा घेरण्ड संहिता, १,५१।

४—गोरक्षपद्धति, पृ० ६२।

५—घेरण्ड संहिता, १,५२।

६—घेरण्ड संहिता, १,५३ तथा गोरक्षपद्धति पृ० ६३।

७—घेरण्ड संहिता, १,५४, तथा गोरक्षपद्धति पृ० ६२।

के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।[1]

८६—नाक के बाएँ छेद को बन्द करके दाहिने छेद से साँस खींचना और बाएँ छेद से छोड़ना, फिर बाएँ से साँस खींचकर दाहिने से छोड़ना----इस क्रिया को जल्दी-जल्दी करने से कपालभाति नामक छठाँ षट्कर्म सम्पन्न होता है। यह साँस खींचने-छोड़ने की क्रिया ठीक उतनी ही तेजी से और उसी तरह होनी चाहिए जैसे लुहार की भाथी हवा खींचती-छोड़ती है।[2] घेरण्ड संहिता में इसके दो प्रकार बताए गए हैं—व्युत्क्रम कपालभाति और शीत्क्रम कपालभाति। नाक से पानी खींचकर मुखद्वार से बाहर गिराना तथा मुखद्वार से पानी खींचकर नासिका मार्ग से बाहर गिराना व्युत्क्रम कपालभाति कहलाती है। मुखद्वारा शीत्कार करके पानी पीना और नाक से बाहर गिरा देना शीत्क्रम कपालभाति है।[3]

प्राणायाम

८७—हठयोग में प्राणायाम का बहुत अधिक महत्व है। घेरण्ड संहिता में कहा गया है कि प्राणयाम से ही योगी को आकाशगमन की सिद्धि मिलती है, रोगनाश होता है। शक्ति का बोध और मनोन्मनी की उपलब्धि भी प्राणायाम द्वारा ही सम्भव है। प्राणायाम से चित्त में आनन्द उत्पन्न होता है और प्राणी सुखी हो जाता है—

प्राणायामात्खेचरत्वं प्राणायामाद्रोगनाशनम्।
प्राणायामाद्बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी॥
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्॥ ५, ५६।

पीछे जिन षट्कर्मों का विवरण दिया गया है वे इस प्राणायाम के ही साधक हैं वैसे ही जैसे प्राणायाम समाधि का साधन है।

८८—प्राणायाम तीन प्रकार के होते हैं—पूरक, कुंभक और रेचक। बाहर के वायु को नाक के एक पुट से भीतर खींचना पूरक कहलाता है, खींचे गये वायु को शरीर में रोके रखने की क्रिया कुम्भक है और एक निश्चित समय तक वायु को शरीर में रोककर फिर उसे नाक के रास्ते बाहर निकाल देना रेचक है। इन तीनों में से कुम्भक को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। वस्तुतः यह कुम्भक ही असल प्राणायाम है। पूरक, प्राणायाम को सम्पन्न करने और रेचक उसको समाप्त करने की स्थितियाँ भर हैं। कुम्भक के ८ प्रकार माने जाते हैं—

१—घेरण्ड संहिता, १,५५,।
२—घेरण्ड संहिता, १,५६—५८ तथा गोरक्षपद्धति पृ० ६३।
३—घेरण्ड संहिता, १,५९—६१।

सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवली—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भिका ॥—घेरण्ड० ५,४५.

सहितकुम्भक के दो भेद हैं—सगर्भ और निर्गर्भ। जिसमें बीजमंत्र को बोलकर कुम्भक साधा जाय वह सगर्भ सहित है तथा जिसमें बीजमन्त्र बोले बिना साधन किया जाय वह निर्गर्भ है।[1] बाएँ नासापुट से साँस को खींचकर उसे कुम्भक में तब तक रोके रखना जब तक नखों और बालों में पसीना न आ जाए सूर्यभेदकुम्भक कहलाता है।[2] नाक से वायु को खींचकर क्रमशः उसे धारण किया जाय और फिर हृदय और गले से वायु को खींचकर मुख में धारण करने से उज्जायी कुम्भक सम्पन्न होता है।[3] जीभ से पवन को खींच कर पेट में धीरे-धीरे भरना और एक क्षण के लिए उन्हें भीतर अवरुद्ध करके नाक द्वारा बाहर छोड़ देना शीतली कुंभक कहलाता था।[4] लुहार की भाथी जिस प्रकार बार-बार हवा को खींचती और छोड़ती है वैसे प्राण को दोनों नासा-पुटों से भरे और छोड़े जाने की क्रिया को भस्त्रिकाकुंभक कहते हैं।[5] अर्धरात्रि को ऐसी जगह पर जहाँ जानवरों तक की आवाजें न सुनाई पड़ सकें हाथों से कान को दबाकर किया गया वह कुभक जिसमें शरीरस्थ अन्तर्नाद (=अनाहत-नाद) पहले झींगुरों की आवाज़ जैसा और फिर धीरे-धीरे बढ़ता हुआ जलवर्षण, भ्रमरी, घंटा, काँसे के बर्तन, तुरही, मृदग और दुदुभी की आवाज़ जैसा नाद सुनाई देने लगे तो उसे भ्रामरी कुंभक कहते हैं।[6] सुखपूर्वक कुम्भक करके मन को भ्रूमध्य में स्थिर करना तथा सभी विषयों की ओर से मन को अवरुद्ध करके सुखदायिनी मूर्च्छा की स्थिति में पहुँचा देना मूर्च्छाकुम्भक प्राणायाम है जिसे सिद्ध कर लेने पर मन और आत्मा को ध्रुव योगानन्द प्राप्त हो जाता है।[7] घेरण्ड संहिता में दिए गए विवरण से लगता है कि आठवाँ और अन्तिम केवली[8]

१—घेरण्डसहिता, ५, ४६।

२—विस्तृत विवरण के लिए दे० उपर्युक्त, ५,४६—६६।

३—वही, ५,६८—७१।

४—दे० घेरण्ड सहिता, ५, ७२-७३।

५—वही, ५,७४-७६।

६—वही, ५,७७ ८२।

७—वही, ५.८३।

८—वही, ५,८४-९६।

कुंभक अजयागायत्री का ही दूसरा नाम है। अजयागायत्री सामान्य श्वास-प्रश्वास की पारिभाषिक संज्ञा है जिसे हंस भी कहते हैं क्योंकि सामान्यतया श्वास को छोड़ते हुए एक अव्यक्त-सी 'ह' कार की ध्वनि होती है और श्वास खींचते समय 'स' कार की। यही 'ह' 'स' ही 'हंस' है जिसे हठयोगी शिव (हं) तथा शक्ति (स) का साक्षात्स्वरूप मानता है। हठयोगी के अनुसार मनुष्य दिन-रात मिलाकर इक्कीस हज़ार छः सौ बार साँस खींचता-छोड़ता है। अगर साधक सामान्य श्वास-प्रश्वास में प्राणायाम की धारणा करले तो यह सामान्य श्वास-प्रश्वास ही उसके लिए केवलीकुंभक प्राणायाम बन जाता है। संक्षेप में यही प्राणायाम है। संक्षेप में इसलिए कि यहाँ जो कुछ कहा गया है वह केवल सूचना मात्र है। हठयोग समझने-समझाने की विद्या है ही नहीं, यह मुख्यतः करने-कराने की विद्या है। जिसे मैंने दस मिनट में पढ़कर हृदयंगम कर लेने लायक बनाकर बयान किया है वह वस्तुतः कई-कई वर्षों की अनवरत साधना से भी कठिनाई से स्वायत्त होता है। इनका तंत्र (टंटा) अजीब और दुर्ग्राह्य है—हठयोगी के लिए नहीं, सामान्य जन के लिए। हठयोगी तो इसी प्राणायाम और मुद्रासाधना से उन्मनी तथा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति करता है। हमारे लिए इस चर्चा का महत्व यही है कि इसके द्वारा हम समझ सकेंगे कि आसन पवन को दूर करके उन्मनी लगाने की बात करने वाले संत वैसा कहने के लिए विवश थे, तंत्र इसी विवशतावश संतों तथा सामान्य भारतीय लोगों के लिए 'टंटा' दिखे थे और उन्मनी प्राणायाम एवं मुद्रा-साधना से प्राप्य मनःस्थैर्य की अपेक्षा 'उन परमप्रिय के मन के अनुकूल हो जाने' (उन + मनी) की सहज मनोदशा का बोध कराने लगी। योगियों और संतों की उन्मनी में उतना ही अन्तर है जितना योग और भक्ति के तत्त्ववाद में है इसे और सफ़ाई से समझने के लिए मुद्रा, समाधि, षट्चक्र आदि को भी समझ लेना जरूरी है।

मुद्रा

८९—वक्ता, श्रोता और वक्तव्यभेद से मुद्रा के कई अर्थ होते हैं[1] पर

१—(क) शारीरिक अंगों जैसे उँगलियों आदि की अनेकविध स्थितियाँ,
(ख) तान्त्रिक साधकों की साधना सहचरी;
(ग) पंचमकारों में भुने हुए अन्न,
(घ) कनकटा योगियों द्वारा कान में पहने जाने वाला कर्णाभरण;
(ङ) विष्णु के आयुधों के चिन्ह जिन्हें भक्त लोग अपने पर धारण करते हैं।

साधना के प्रसंग में काय-साधना को प्रमुख मानने वाले हठयोगी के लिए यह अंगों के विशेष प्रकार के विन्यास का बोध कराती है। घेरण्ड संहिता के मत से इन मुद्राओं का ज्ञान सर्वसिद्धि देता है।[1] मुद्राओं की संख्या बहुविध है। स्वयं घेरण्डसंहिता में यह पच्चीस बताई गई है।[2] हम यहाँ इस लम्बे पचड़े में न पड़कर केवल उन मुद्राओं के विषय में सामान्य-सी जानकारी संग्रह कर लेना चाहेंगे जिन्हें उन्मनी से किसी-न किसी तरह संबद्ध माना गया है।

हम पीछे कह आए हैं मनोन्मनी या उन्मनी की उपलब्धि के लिए खेचरी, योनि, शाम्भवी, तारक आदि मुद्राओं का उल्लेख सिद्धांत-ग्रन्थों में मिलता है।[3] मुद्रा चर्चा में हम अपने को इन्हीं तक सीमित रखना चाहेंगे।

खेचरीमुद्रा

९०—उन्मनी साधनों मे इस मुद्रा का महत्त्व तो है ही[4] हठयोग की साधना में इसे बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। कहीं-कहीं इसे एकमात्र मुद्रा कहा गया है।[5] जिह्वा को उलटकर कंठ के मूल में जो छिद्र (कपालकुहर) है उसमें प्रवेश कराने से यह मुद्रा सम्पन्न होती है।[6] ऐसा करने के लिए जीभ को छेदन, चालन और दोहन द्वारा जिह्वा को बढ़ाना आवश्यक होता है। जीभ के नीचे जड़ के पास स्थित जो नाड़ी है उसे काटना छेदन कहलाता है, मक्खन आदि

१—घेरण्ड संहिता, ३,४।

२— महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयान जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्ति चालिनी।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारिणी ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पंचविंशति मुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम् ॥
वही, ३,१—३,।

३—दे० पीछे पैरा।

४—अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते। हठयोग प्रदीपिका, ४,४६।

५—एक सृष्टिमयबीजमेकामुद्रा च खेचरी . ॥ गोरक्ष पद्धति, पृ० ४०।

६—कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्राभवति खेचरी ॥ वही पृ० २२।

लगाकर जीभ को लम्बी करने के लिए बाहर खींचते रहना दोहन है।[1] लम्बी करने के लिए जीभ को लोहे के चिमटे आदि से पकड़ कर खींचने का भी विधान है। इस तरह नित्य अभ्यास करने से जिह्वा लम्बी हो जाती है। लम्बी होकर जीभ यदि दोनों भौंहों के बीच की जगह को छूने लग जाय तो समझना चाहिए कि वह खेचरी मुद्रा के योग्य हो गयी है।[2] जब जिह्वा योग्य हो जाय तो उसे उलटी करके कपाल छिद्र में स्थित तीनों नाड़ियों (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना) का जो मार्ग है उसे बन्द कर देना चाहिए।[3] जो योगी जीभ को ऊर्ध्वमुखी करके चन्द्रमण्डल से क्षरित्र होने वाले अमृत को पीता है वह पन्द्रह दिनों के अभ्यास से ही मृत्युजय हो जाता है।[4]

योनि मुद्रा

९१—'षट्चक्र-निरूपण' में योनिमुद्रा को पुरबन्धन (अन्तरात्मा के निरोध) का मूल कारण कहा गया है[5] जो अन्ततः उन्मनी का कारण भी होती है। घेरण्ड संहिता के मत से जो मुक्ति की कामना करते हैं उन्हें इस मुद्रा की साधना अवश्य करनी चाहिए।[6]

इस मुद्रा की साधना के लिए योगी को पहले सिद्धासन बाँध कर कान, आँख, नाक और मुँह को अँगूठे, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से बन्द करना पड़ता है। इसके बाद मुँह को कौवे की चोंच की तरह बनाकर धीरे-धीरे काकी मुद्रा द्वारा प्राणवायु को खींच कर उसे अपान वायु से मिलाना पड़ता

१—छेदन चालन दोहैः कला क्रमेणवर्द्धयेत्तावत्।
यावद्भ्रूमध्यवु स्पृशति सदा खेचरी सिद्धिः॥ वही, पृ० ३६।

२—जिह्वाधोनाड़ीं संछिन्ना रसना चालयेत्सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत्॥
एवं नित्य समायासाल्लंबिका दीर्घता व्रजेत।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी॥ घेरण्ड,-३,२३-२४, गोरक्ष पद्धति पृ० ३७ भी देखिए।

३—गोरक्षपद्धति, पृ ३७, श्लोक ५।

४—ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभूत्वा सोमपान करोति यः।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युजयति योगवित्॥ वही, पृ० ३८, श्लोक ८।

५—पुरबन्धनकारण योनिमुद्रा, वही पृ० ५१। दे० आगे, परिशिष्ट २ (क)

६—घेरण्डसंहिता, ३, ३९।

९४—महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।[1] योगशास्त्र के मर्मी से यह बात छिपी नहीं है यहाँ 'योग' का अर्थ 'समाधि' ही है। चित्त-वृत्ति के निरोध द्वारा योग सम्पन्न होता है और चित्तवृत्ति के निरोध से ही समाधि भी सम्पन्न होती है। चित्तवृत्ति के सम्यक् निरोध के सम्पन्न हो जाने पर योगी मुक्त हो जाता है। यही कैवल्य की अवस्था या मोक्ष योगशास्त्र का परम प्राप्तव्य है। समाधि का फल भी मुक्ति या कैवल्य ही है। विष्णु पुराण में स्पष्ट घोषित किया गया है कि—'विनिष्पन्न समाधिस्तु मुक्ति तत्रैव जन्मनि। प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्ध कर्म चयोऽचिरात् ॥' इस प्रकार योग शास्त्र में 'योग' और समाधि समानार्थी हैं। योग में चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है किसी एक इच्छित विषय पर चित्त को स्थिर रखना। लेकिन यह काम है बहुत ही कठिन। गीता में श्रीकृष्ण से अर्जुन ने इसे वैसा ही दुष्कर बताया है जैसे हवा को बाँध रखना दुष्कर है[2] और पतञ्जलि की तरह[3] श्रीकृष्ण ने चित्त या मन की स्थिरता के लिए अभ्यास और वैराग्य को आवश्यक बताया है।[4] समाधि इसी स्थिरता का वाचक शब्द है। इस विषय में अभ्यास और वैराग्य ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं, योग या समाधि त्यों-त्यों घनीभूत होती जाती है और अपनी सर्वोच्च अवस्था में पहुँचकर असम्प्रज्ञात समाधि के रूप में पूर्ण होकर कैवल्य या मुक्ति देने में समर्थ होती है। स्पष्ट है कि असम्प्रज्ञात रूप चरम परिणति के पूर्व इस समाधि के और भी कई पूर्ववर्ती रूप होते हैं। यहाँ एक क्रम से उन्हें समझ लिया जाना चाहिए।

योगसूत्र में पतंजलि ने दो भिन्न प्रकार की समाधियों की चर्चा की है-एक सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि और दूसरी आठ योगागों से परिणमित समाधि। ध्यान देने की बात है कि 'समाधिपाद' एवं 'विभूतिपाद' नामक प्रथम प्रकरणों से सूचित सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात नाम की समाधियाँ साध्य हैं जब कि 'साधनपाद' नामक द्वितीय प्रकरण में योगागों के अन्तर्गत उल्लिखित 'समाधि' साधन है और चित्तवृत्ति के निरोध से सम्पन्न होती है।

१—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ॥—पातञ्जल योगसूत्र १, २।

२—चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याह निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥—गीता ६,३४।

३—अभ्यास वैराग्याभ्यांम तन्निरोधः ॥—योगसूत्र, १,१२।

४—असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥—गीता ६,३५।

१५—योगशास्त्र में चित्त की पाँच भूमियाँ मानी गई हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। भाष्यकार व्यास का मत है कि "स (=समाधि) च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः"—अर्थात् उक्त सभी चित्तभूमियों में समाधि हो सकती है। लेकिन इनमें से प्रथम दो चित्तभूमियों की समाधि योग के योग्य एकदम नहीं है। तृतीय अर्थात् विक्षिप्त चित्त में उत्पन्न समाधि में सभी विक्षेप संस्कार रहते तो हैं पर अप्रधान भाव से, अतः कदाचित् इसमें चित्त स्थिर हो भी जाता है किन्तु योगशास्त्र इसे भी कोई महत्त्व नहीं देता। शेष दो चित्त-भूमियाँ योग की दृष्टि से काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों में बँधने वाली समाधियों की चर्चा के पूर्व प्रथम तीन चित्तभूमियों और उनमें लगने वाली समाधियों की प्रकृति को समझ लेना चाहिए।

चित्तभूमि का अर्थ है चित्त की सहज-स्वाभाविक अवस्था। क्षिप्तभूमिक चित्त अपनी सहज अवस्था में रजोगुण प्रधान होने के कारण बहिर्मुख और अस्थिर होता है, अतः समाधि के लिए जितनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति अपेक्षित होती है, उतनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति इसमें नहीं होती। राग, द्वेष, हिंसा आदि से बुरी तरह मथित क्षिप्त चित्त में कभी-कभी समाधि लगती देखी जाती है। पाण्डवों से पराजित होकर प्रबल द्वेष से मथित जयद्रथ का चित्त शिव में समाधिस्त हो गया था ऐसा उल्लेख 'महाभारत' में मिलता है। योग विक्षिप्त चित्त की इस समाधि को समाधि नहीं मानता और न इसे कोई नाम ही देता है। दूसरी चित्तभूमि मूढ़ कहलाती है। अपनी सहज अवस्था में यह तमोगुण प्रधान है। यह चित्त की विवेकशून्य, अर्थात् कार्य अकार्य के विवेक से हीन स्थिति है। इस भूमिका में स्थित चित्त किसी इन्द्रिय-विषय में मुग्ध होने के कारण समाधिस्थ हो जाता है। कामासक्ति की गहनतम स्थितियों में इस तरह का मूढ़ चित्त बहुधा समाधिस्थ हो जाता है। भस्मासुर की पौराणिक कथा इसका अच्छा उदाहरण है। चित्त की तीसरी भूमिका विक्षिप्त कहलाती है। इसमें किसी प्रबल विक्षेप के कारण स्थिरता प्राप्त चित्त अस्थिर और अस्थिर चित्त स्थिर हो जाता है। अपनी सहज अवस्था में विक्षिप्त चित्त सत्त्वगुण प्रधान है, परिणामतः दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनों की ओर प्रधावित होने की इसकी सहज वृत्ति है, अतः किसी भी प्रबल आकर्षणवश इसकी सारी स्थिरता भग्न हो सकती है। पुराणों में ऐसे अगणित आख्यान मिलते हैं जहाँ धन, मान या अप्सराओं के सौन्दर्योपभोग के आकर्षण में पड़कर अनेक योगी योगभ्रष्ट हो गए बताए गए हैं। विश्वामित्र विक्षिप्तभूमिक चित्त के अप्रतिम उदाहरण हैं। किसी की स्तुति से खुश हुए तो

उसे हर अपराध और पाप के बावजूद सदेह स्वर्ग भेज देंगे; नई सृष्टि और नए स्वर्ग की रचना में प्रवृत्त हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं—लेकिन एक क्षण के लिए ध्यान दूसरी ओर गया नहीं कि त्रिशंकु आकाश में उल्टे लटके रहें, कोई चिन्ता ही नहीं। भूख लगी तो क्षुधा पर सारी वृत्तियाँ ऐसे एकतान हो जाएँगी कि करणीय-अकरणीय भक्ष्याभक्ष्य की सारी चेतना विलीन हो जाएगी और चाण्डाल के घर से सड़े हुए कुत्ते की जंघा चुराने में भी कोई हिचक नहीं मानेंगे। तपस्या करेंगे तो ऐसी कि विश्व ब्रह्माण्ड काँप उठे, और मेनका के सौन्दर्य तथा विलास में डूबेंगे तो ऐसे कि वर्षों स्वयं अपने विषय में भी नहीं सोचेंगे कि वे कौन हैं! स्पष्ट है कि ऐसे विक्षिप्तभूमिक चित्त की समाधि अस्थिर होती है। योग का सर्वप्रमुख या एकमात्र लक्ष्य है कैवल्य जो सम्पूर्ण चित्तनिरोध के बिना सम्भव नहीं। इसके लिए सारे विक्षेपों का दूर होना अनिवार्य है। विक्षिप्तभूमिक चित्त की समाधि इसी कारण कैवल्य का साधन नहीं बन सकती अतः योग इस समाधि को महत्त्व नहीं देता और इसीलिए इसे कोई भिन्न नाम भी नहीं देता। योग में आद्रित समाधि चौथी चित्त भूमि से शुरू होती है।

चित्त की चौथी भूमिका एकाग्रभूमि कही जाती है। चित्त जब बाह्य विषयों से हटकर एकाकार वृत्ति धारण करता है तो उसे एकाग्र, अर्थात् मात्र एक की ओर उन्मुख या मात्र एक का अवलम्बन करने वाला कहा जाता है। एक वृत्ति के निवृत्त होने पर उसके बाद उदित होने वाली वृत्ति भी यदि प्रथम वृत्ति के अनुरूप हो उठे और आगे भी उसी तरह की अनुरूप वृत्तियों का प्रवाह चलता रहे तो इस प्रकार का चित्त एकाग्र भूमिक कहा जाता है। महर्षि पतंजलि का कहना है कि—'..... शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः।[1]"—अर्थात्, चित्त के एकाग्र हो जाने पर उसमें उठने, उठकर विलीन (शान्त) होने तथा फिर नए सिरे से उठने (उदित होने) वाली वृत्तियों की एकरूपता (तुल्य प्रत्यय) स्वभावतः अनिवार्य परिणाम की तरह उपस्थित होती है। एकाग्रचित्त का लक्षण है ध्रुवास्मृति, अतः इस अवस्था में मन दिन में, रात में जागते, सोते यहाँ तक कि स्वप्न में भी एक ही मूलभूत लक्ष्य पर एकाग्र रहता है। यों कहें कि एकाग्रता उसका स्वभाव बन जाती है। चित्त की इसी एकतान, एकाग्र अवस्था में कैवल्य या मोक्ष की साधिका सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होती है। इस समाधि में चित्त की सभी

१—योगसूत्र ३, १२।

वृत्तियों का[1] निरोध नहीं होता, वल्कि ध्येय रूप में अवलम्बित विषय को आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्तमान रहती है और निरन्तर अपने अनुरूप प्रवृत्ति-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती है। जिस प्रकार विक्षिप्त चित्त को एकाग्र बनाने के लिए अभ्यास[2] तथा वैराग्य[3] की आवश्यकता होती है,[4] उसी प्रकार एकाग्र चित्त को निरुद्ध करने के लिए भी अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है। सप्रज्ञात समाधि की अवस्था में एक लक्ष्य पर स्थिर चित्त वितर्क, विचार, आनन्द एव अस्मिता नामक चार भावों का अनुसरण करता है।[5] अतः इनके पारस्परिक भेद के अनुसार सप्रज्ञात समाधि के चार भेद होते हैं—सवितर्क समाधि, सविचार समाधि, सानन्द समाधि, तथा अस्मिता मात्र या सास्मित समाधि।

६४—सवितर्क समाधि में चित्त शब्द, अर्थ, ज्ञान और विकल्प से युक्त और किसी स्थूल विषय पर एकाग्र होता है। उदाहरण के लिए—शब्द : जैसे गाय; अर्थ . इस गाय शब्द या पद से सबोधित या सकेतित होने वाला चार पैरों वाला जन्तु विशेष, ज्ञान : गाय शब्द से अभिहित और गाय अर्थ में बोधित जन्तु विशेष सम्बन्धी जानकारी; वितर्क : नाम, नामी, तथा नाम-नामी सबंधी ज्ञान—तीनों एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु साधारण अवस्था में इनमें एक सम्बन्ध की स्थिति अनुभूत होती है। यही वितर्क है। इन्हीं चारों (शब्द, अर्थ, ज्ञान, विकल्प) से युक्त होकर चित्त जब स्थूल विषय पर एकाग्र होता है तो चित्त की इस समाधि दशा को सवितर्क या सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। जहाँ वितर्क न हो, ऐसी समाधि निर्वितर्क कहलाती

१—योग को चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है (योगसूत्र १,२)। चित्तवृत्तियाँ वैसे तो बहुतेरी हैं पर उनमें से पाँच मुख्य हैं—प्रमाण, विपर्यय (मिथ्या-ज्ञान), विकल्प, निद्रा, और स्मृति (योगसूत्र १,६) मुमुक्षु को इनका निरोध करना पड़ता है। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इनका निरोध सभव है (योगसूत्र १,१२)। चित्तवृत्तियों सबन्धी विशेष विवरण के लिए दर्शनीय—पातञ्जलयोग दर्शन, लखनऊ विश्वविद्यालय पृ० ११–२७।

२—योगसूत्र १,१३।

३—योगसूत्र १,१५ उन्मनी की साधना में इस वैराग्य का बहुत महत्त्व है अतः इस विषय में आगे विस्तृत चर्चा की जाएगी।

४—योगसूत्र १, १२।

५—वही १, १७।

है। सवितर्क और निर्वितर्क दोनों को एक ही नाम से भी पुकारा जाता है—वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि।[1]

९७—सम्प्रज्ञात समाधि का दूसरा प्रकार **सविचार समाधि है।** इसे **वितर्क विफल** भी कहा जाता है। वितर्क विफल का अर्थ है जो वितर्क रूपी अंग से हीन हो। यह समाधि सवितर्क समाधि की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्म विषयों (तन्मात्रादि[2]) का अवलम्बन करके साधित एकाग्रता की दशा में सम्पन्न होती है। सवितर्क समाधि की भाँति यह भी शब्दार्थ ज्ञान से संबद्ध है क्योंकि शब्द के बिना विचार सम्भव नहीं है। बस सवितर्क से इसका अन्तर यही है कि यह सूक्ष्म विषयों से सम्बन्धित होती है। सविचार की तरह **निर्विचार** नाम की समाधि भी होती है। इन दोनों को **विचारानुगत** समाधि कहते हैं।

९८—**सानन्द समाधि** सम्प्रज्ञात का तीसरा प्रकार है। यह विचार तथा वितर्क से रिक्त तथा चित्त की विशेष स्थिरता के फलस्वरूप चित्त में व्याप्त सुखमय भाव विशेष पर अवलम्बित समाधि है। इसमें शब्द की उतनी अपेक्षा नहीं होती क्योंकि अनुभूयमान आनन्द की यह समाधि है और आनन्द शब्दातीत है। यह विचार और वितर्क दोनों से हीन होने के कारण **विचार-वितर्क-विकल समाधि** भी कहलाती है। इस अवस्था में प्राप्त सुख से संयुक्त होकर योगी ध्यान और कर्म में रमण करता है।

९९—सम्प्रज्ञात समाधि का चौथा रूप **सास्मित समाधि** है। स्थूल और बाह्य विषयों को, तथा वितर्क एवं विचार को आश्रय करके लगने वाली प्रथम दो समाधियाँ विषय से सम्बन्धित होती हैं। सानन्द समाधि ग्रहण विषय से और सास्मित समाधि ग्रहीत विषय से सम्बद्ध होती है। ग्रहीत विषय—अर्थात् 'मैं' आनन्द का ग्रहण करनेवाला हूँ' इस प्रकार का अहं इस समाधि का विषय होता है। इसीलिए इसे **आनन्द विफल**-अर्थात् आनन्द से अतीत (आनन्द से हीन या निरानन्द नहीं) माना जाता है। सानन्द समाधि में समस्त साधनों से सम्पन्न आनन्द ही उसका विषय होता है, जब कि सास्मित आनन्द का ग्रहण या भोग करने वाला 'अहं' ही इसका विषय होता।

१—वही १,४२।

२—दे० हिन्दी साहित्य कोश, १, संस्करण २, पृ० ९९३ पर 'तन्मात्र' पर मेरी टिप्पणी।

समाधि की अवस्था में योगी बुद्धि के साथ आत्मा को अभिन्न मानकर एकाग्रता प्राप्त करता है। स्पष्ट है कि सम्प्रज्ञात समाधि के इस सर्वोच्च स्तर पर पहुँच कर भी पूर्णतया निरुद्ध नहीं हुआ रहता। इसका पूर्ण निरोध चित्त की पाँचवीं भूमिका में पहुँच कर होता है।

१००—चित्त की पाँचवीं भूमि निरुद्ध भूमि कहलाती है। एकाग्रभूमिक चित्त की एकाकार वृत्ति भी जब अन्य संस्कारों के साथ-साथ लय हो जाती है तो ऐसे चित्त को निरुद्ध कहा जाता है। चित्त की इसी अवस्था में योगशास्त्र में सर्वाधिक आहत असंप्रज्ञात समाधि सम्पन्न होती है। इस अवस्था में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास द्वारा जब चित्त सदा सर्वदा के लिए निरुद्ध और स्ववश हो जाता है तभी कैवल्य या मुक्ति मिल जाती है। इस अवस्था में किसी प्रकार का सम्प्रज्ञान नहीं रहता, अतः इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। पर वैराग्य (दे० आगे) इस समाधि का साधन है। इस समाधि में कोई भी चिन्त्य पदार्थ नहीं रहता। यह समाधि दशा अर्थशून्य है और इसका अभ्यास करने वाला चित्त निरालम्ब और अभावापन्न-सा होता है। पतञ्जलि ने इस समाधि को 'विरामप्रत्ययाभास पूर्व' कहा है।[1] साथ ही उन्होंने इसे 'संस्कारशेष' भी कहा है।[2] तात्पर्य यह कि इसमें चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती हैं, किन्तु संस्कार फिर भी बचे रहते हैं।

१०१—चित्त के दो धर्म माने जाते हैं—प्रत्यय (कारण) और संस्कार। चित्त के निरुद्ध हो जाने पर प्रत्यय नहीं रहता, किन्तु प्रत्यय पुनः उठ सकता है अतः निश्चित है कि प्रत्यय का संस्कार इस अवस्था में भी चित्त में रहता है। पर वैराग्य के बार-बार के अभ्यास से कुछ दिनों बाद उद्बोधक सामग्री के न मिलने से संस्कार धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि को कुछ लोग निर्बीज समाधि भी कहते हैं पर असम्प्रज्ञात और निर्बीज में थोड़ा अन्तर है। असम्प्रज्ञात कैवल्य को सिद्ध करने वाली समाधि है, जबकि निर्बीज कैवल्य की साधक नहीं भी हो सकती। योगसूत्र के टीकाकार विज्ञानभिक्षु ने इस भेद की ओर ध्यान न देकर इन्हें एक ही माना है।

१०२—समाधि के प्रसंग में धर्ममेघ समाधि का उल्लेख भी आवश्यक है। महर्षि पतञ्जलि ने बताया है कि "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते-

---

१—योगसूत्र १, १८

२—वही।

धर्ममेघसमाधिः ॥[१]" अर्थात् विवेकज ज्ञान (प्रसख्यान) में भी विरागयुक्त (अकुसीदस) होने पर सर्वथा विवेकख्याति होने से धर्ममेघ समाधि उत्पन्न होती है।

योगसूत्र चित्तवृत्ति के निरोध को योग मानता है। यह चित्त त्रिगुणात्मक है। इसमें यदि रजोगुण और तमोगुण का ससर्ग रहे तो उसे विषय एव ऐश्वर्य प्रिय लगते हैं। तमोगुण से सयुक्त चित्त की प्रवृत्ति आसक्ति, दुःखद परिणाम वाले कर्म, अनैश्वर्य एव अधर्म में होती है। रजोगुण प्रधान चित्त में चाचल्य होता है, यह एक भाव से दूसरे भाव की ओर निरन्तर प्रधावित होता रहता है। लेकिन जब रजोगुण की चाचल्यधर्मी वृत्ति भी चित्त से अपवारित हो जाती है, उस अवस्था में सत्त्वगुण का पूर्ण विकास होता है और चित्त के स्वस्वरूप में स्थित हो जाने से उसमें विवेकख्याति विषयक समापत्ति (अर्थात् बुद्धि और पुरुष स्वरूप के भेद ज्ञान की प्राप्ति) हो जाती है। विवेकख्याति की इसी विप्लवहीन अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। जिस प्रकार मेघ पानी बरसाकर सृष्टि के कण-कण को सींच देते हैं उसी प्रकार आत्मदर्शन रूप परमधर्म, अर्थात् कैवल्य की वर्षा करके साधक के चित्त को सींच देने के कारण ही यह 'धर्ममेघ' है। इसलिए धर्ममेघ समाधि साधना की अन्तिम सीमा है। इसकी उपलब्धि से सम्यक् निवृत्ति या सम्यक् निरोध सिद्ध होता है। इस समाधि के लग जाने पर सम्पूर्ण क्लेशों[२] से निवृत्ति मिल जाती है।[३] यही क्लेशकर्म निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। इसी अवस्था को प्राप्तकर 'जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति', क्योंकि धर्ममेघ की प्राप्ति से, जिन कर्मों से भोग और अपवर्ग प्राप्त होता है, उनका परिणामक्रम समाप्त हो जाता है[४] और पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रलयरूप कैवल्य प्राप्त हो जाता है।

१०३—बौद्धदर्शन भी धर्ममेघ की कल्पना को स्वीकार करता है। उसके अनुसार इस अवस्था में बोधिसत्त्व सभी प्रकार की समाधियों को प्राप्त कर लेता है। बोधिसत्त्व भूमियों का यही चरम परिणाम है।[५] बौद्ध-दर्शन में धर्ममेघ का

१—वही ४,२९,।

२—दे० 'क्लेश' पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, सस्करण २, पृ० २७१-७२।

३—'ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः'—योगसूत्र ४,३०।

४—वही ४,३२।

५—विस्तृत विवरण के लिए महायानबुद्धिज्म, के० एन० दत्त, पृ० २३८-२८९

एक नाम 'अभिषेक' भी मिलता है। संतों के काव्य में मेघ के बरसने के सम्बन्ध में जो गूढोक्तियाँ मिलती हैं उनका तात्पर्य इसी धर्ममेघ समाधि से होता है। जब कबीर कहते हैं "गगन गरजै बिजुरी चमकै उठती हिए हिलोर। बिगसत कँवल मेघ बरसाने चितवत प्रभु की ओर।" तो उनका तात्पर्य धर्ममेघ की कैवल्य दायिनी धारासार वृष्टि से ही होता है। ज्ञान की आँधी आने पर जो जल बरसता है वह भी धर्ममेघ समाधि की कैवल्य सुख की वर्षा का ही अर्थ देती है।

हम पीछे कह आए हैं कि सन्तों की उन्मनी समाधि से आगे की अवस्था है। समाधि की उक्त शास्त्रीय चर्चा को सन्तों की उन्मनी के समानान्तर रखकर देखने पर ऐसा ही मानना पड़ता है। अस्तु।

वैराग्य

१०४—हम पीछे देख आए हैं कि हठयोग की उन्मनी समाधि की समशील है और समाधि चित्तवृत्तियों के निरोध की पराकाष्ठा का नाम है। हम यह भी देख आए हैं कि संतों की उन्मनी समाधि की समशील नहीं है वह समाधि से ऊपर की चीज़ है और उस उन्मनी के लिए अभ्यास और वैराग्य की जगह 'सुरति' और 'निरति' की ज़रूरत पड़ती है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सुरति और निरति वैराग्य नहीं है पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि सुरति और निरति वैराग्य के साथ ही और भी बहुत कुछ है—वैसे ही जैसे उनकी उन्मनी समाधि भी है लेकिन समाधि से और भी बहुत कुछ है। सन्तों की उन्मनी को समझने के लिए 'सुरति और निरति' की चर्चा का अवसर हमें अभी मिलेगा। हठयोग की उन्मनी को समझने के लिए वैराग्य को यहाँ समझ लेना ज़रूरी है।

योग का परम प्राप्तव्य है चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा कैवल्य की उपलब्धि। चंचल, प्रमथ, बलवती तथा अवश चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही होता है इसीलिए वैराग्य को कैवल्य का अविनाभावी कहा जाता है—अविनाभावी, अर्थात् वैराग्य के बिना कैवल्य का मिलना असम्भव है।

योगशास्त्र में भोगलिप्सा की निवृत्ति को वैराग्य कहा जाता है। पतंजलि ने 'समाधि पाद' के पन्द्रहवें सूत्र में वशीकार संज्ञा नाम से वैराग्य का लक्षण दिया है।[1] उसे पूरी तरह समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य।

१—'दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।'

अपर वैराग्य वैराग्य का प्रारम्भिक रूप है। इसकी चार स्थितियाँ या सीढ़ियाँ मानी गई हैं–१—यतमान संज्ञा, २—व्यतिरेक संज्ञा, ३— एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा। चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करने के प्रारम्भिक प्रयास में इन्द्रियों की चंचलता को रोकने की चेष्टा वैराग्य का प्रारम्भिक रूप है। यहाँ योगी इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त या लिप्त होने से रोकने की कोशिश करता है। यही यतमान संज्ञा है। इसके परिणामस्वरूप चित्त किन्हीं-किन्हीं विषयों से हट जाता है और किन्हीं-किन्हीं विषयों के प्रति उसकी ललक क्षीण हो जाती है। वैराग्य की यह दूसरी सीढ़ी व्यतिरेक संज्ञा कहलाती है। एकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य की वह स्थिति है जहाँ पहुँच कर सभी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से पूरी तरह निवृत्त हो जाती हैं पर मन में अब भी इन विषयों के प्रति पूर्ण वैराग्य सिद्ध नहीं हुआ रहता और वह यदा-कदा उनकी ओर खिंच जाया करता है। पंचेन्द्रियों के अतिरिक्त मन को भी एक इन्द्रिय माना जाता है। वैराग्य की इस अवस्था में चूँकि मन विषयों से पूर्ण विरक्त नहीं हुआ रहता अतः इसे एकेन्द्रिय संज्ञा कहा जाता है। अपर वैराग्य की अन्तिम अवस्था वशीकार संज्ञा है।

पतंजलि का मत है कि—"दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकर सज्ञा वैराग्यम्।[1]" अर्थात् जब मन दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति सम्पूर्ण ललक खोकर वितृष्ण हो जाता है तो उस वैराग्य को वशीकार सज्ञा कहते हैं। स्पष्ट है कि विषय दो प्रकार के होते हैं—दृष्ट, अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव किए जाने वाले (जैसे स्त्री-पुत्र, अन्न-पान, ऐश्वर्य-विभव आदि) और आनुश्रविक, अर्थात् अनुश्रुति या शास्त्र से जाने जाने वाले (जैसे स्वर्ग आदि)। इन दोनों प्रकार के विषय सुखों से जो विरक्त हो गए हैं, जिनके मन में 'धरम न अरथ न काम रुचि' पूरी तरह दृढ़ हो गयी है ऐसे योगी की सप्रज्ञात समाधि लग जाती है। लेकिन वैराग्य यहीं पूरा नहीं होता। वह पूरा होता है उस अवस्था में जहाँ आत्मज्ञानी योगी की वितृष्णा समस्त विषयों के प्रति ही नहीं समस्त गुणों के प्रति हो जाय। यही परवैराग्य है। पतंजलि के शब्दों में पुरुषख्याति (=आत्मज्ञान) हो जाने के पश्चात् गुणवैतृष्ण्य रूप वैराग्य ही पर परवैराग्य है[2]। यह वैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा है, यही कैवल्य है। यहीं पहुँच कर व्यक्ति के सभी दुःखों की एकान्त निवृत्ति हो जाती है, उसकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध और

१—योग सूत्र १, १५।

२—वही १, १६।

फिर विलीन हो जाती हैं, उसे पूर्ण मनःस्थैर्य मिल जाता है और हम देख आए हैं कि हठयोगी इसी मनःस्थैर्य को मनोन्मनी कहता है[१]।

कुछ और प्रसंग

१०५—हठयोग के आदि प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ का दृढ़ मत है कि जो योगी अपने शरीर में स्थित षट्चक्रों, षोडश आधारों, दो लक्ष्यों और पाँच आकाशों को नहीं जानता वह कभी भी सिद्धि नहीं पा सकता—

षट्चक्र शोडशाधार द्विलक्ष्य व्योमपचकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथ सिद्ध्यन्ति योगिन :॥[२]

उन्मनी के प्रसग में हम कह आए हैं कि हठयोगी नाथ-साधक नागाअर्जन (समवतः नागार्जुन) ने उन्मनी अवस्था की प्राप्ति के लिए समस्त यौगिक क्रियाओं की जानकारी को अनिवार्य माना है[३] अतः हठयोग और हठयोग की उन्मनी दोनों की जानकारी के लिए षट्चक्रों, आधारों, लक्ष्यों और व्योमों का सामान्य परिचय आवश्यक है।

१. षट्चक्र

१०६—हिन्दू योग-परम्परा में षट्चक्रों की जानकारी तथा उनके भेदन, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध कर षट्चक्रों से पार कराते हुए उसे सहस्रारस्थ परमशिव से समरस करने को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। हठयोगी को इसी षट्चक्रभेदन में मुक्ति दिखाई पड़ती है। इन छ: चक्रों की कल्पना तंत्रों में बड़े ही सूक्ष्म और विस्तृत ढग से की गई है।

शरीर को अगर आधे आध पर विभाजित करना हो तो कटिप्रदेश इसके केन्द्र में पड़ेगा। कटि के नीचे का भाग, अर्थात् जहाँ रीढ की हड्डी का निचला सिरा है, वहाँ से पैरों के तलवों तक का भाग शरीर का अपेक्षाकृत कम चेतन और अधिक स्थूल क्रियाओं मे उपयोग किया जाने वाला अग है। कटिप्रदेश में पायु और उपस्थ के पास से मेरुदण्ड शुरू होता है और ऊपर, शिर के नीचे,

---

१—यो मन. सुस्थिरी भावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥—हठयोग प्रदीपिका, २,४२।

२—दे० गोरक्ष पद्धति, पृष्ठ १२, श्लोक १३।

३—आया मोटिला सतगुर थापिला। न करिबा जोग जुगुतिका हेला।
उनमन डोरी जब खैंचीला तब सहज जोति का मेला॥
—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ६७।

गर्दन पर बनी गाँठ तक, जिसे सुषुम्नाशीर्ष कहते हैं, समाप्त होता है। यहीं शरीर के बाएँ अंगों से सम्बद्ध नाड़ियाँ मस्तिष्क के दाहिने पार्श्व की ओर, और दाहिने अंग की नाड़ियाँ बाएँ पार्श्व की ओर मुड़कर एक पुल का निर्माण करती हैं जिसे 'सेतु' कहते हैं। इसके ऊपर मस्तिष्क की स्थिति है। हठयोग में मानवशरीर के इन दो भागों में क्रमशः सात अधोलोकों और सात ऊर्ध्व लोकों की स्थिति बताई गई है क्योंकि हठयोगी के मत से जो ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ ज्यों-का-त्यों पिण्ड में भी स्थित है। उनके अनुसार पैर के तलवों में अतल लोक, पैरों के ऊपर वितल लोक, जाँघों में सुतल लोक, सर्वबन्ध में तल लोक उससे ऊपर तलातल लोक, गुह्यदेश में रसातल लोक और कटिदेश में पाताल लोक स्थित हैं। इसी तरह शरीर के उत्तरवर्ती भाग—अर्थात् नाभि प्रदेश में भूलोक, उसके ऊपर भुवःलोक, हृदयदेश में स्वर्लोक, कण्ठदेश में तपःलोक, चक्रदेश में जनःलोक, ललाटदेश में तपोलोक (या महःलोक) और ब्रह्मरन्ध्र या महारन्ध्र में सत्यलोक अवस्थित हैं। हठयोगी इन्हीं को चतुर्दश भुवन कहता है।[1]

हठयोग के अनुसार शरीर के ऊपरी भाग में अवस्थित भूः, भुवः, स्वः, तपः, जनः, महः और सत्य नामक सातलोक या सप्तपुरियाँ क्रमशः एक-एक चक्र (या कमल) पर अवस्थित हैं। सातवाँ सत्यलोक ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रार-चक्र (या पद्म) पर स्थित माना जाता है।

१—ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति शरीरे तेऽप्यवस्थिताः ।
पातालं भूधरा लोकास्ततोऽन्ये द्वीप सागराः ॥
आदित्याद्या ग्रहाः सर्वे पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः ।
पादास्त्वतलं प्रोक्त पोदोर्ध्वं वितल स्मृतम् ॥
जानुभ्यां सुतल विद्धि वितल सर्व बन्धने ।
तथा तलातल चोर्ध्वे गुह्यदेशे रसातलम् ॥
पाताल कटि सस्थ तु पादाद्यैर्लक्षयेद्बुधः ।
भूर्लोक नाभि मध्ये तु भुवर्लोकं तदूर्ध्वके ॥
स्वर्लोकं हृदये विद्यात्कण्ठदेशे महस्तथा ।
जनलोक चक्रदेशे तपोलोकं ललाटतः ॥
सत्यलोकं महारन्ध्रे भुवनानि चतुर्दश ।—गरुड़ पुराण ।
उपनिषदा समुच्चयः, १९२५ ई०, पृ० २८९ से उद्धृत ।

१०७—जहाँ तक षट्चक्रों सम्बन्धी मान्यता का सवाल है प्रथम चक्र का नाम **मूलाधार** है। पायु और उपस्थ के मध्य में जहाँ से मेरुदण्ड शुरू होता है, प्रथम चक्र मूलाधार स्थित है। इसमें चार दल माने गए हैं। मूलाधार का रंग लाल माना जाता है और इसके एक-एक दल पर क्रमशः व, श, षं, स नामक चार मात्रिकाएँ अवस्थित मानी गई हैं। इस चक्र की चार वृत्तियाँ हैं—परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द तथा वीरानन्द। इसका तत्त्व पृथ्वी तथा बीज 'ल' है। **स्वयंभूलिंग**[1] यही अवस्थित हैं।[2]

१०८—मूलाधार के ऊपर लिंगमूल में स्थित छः दलों वाला **स्वाधिष्ठान** चक्र है। स्वाधिष्ठान, संज्ञा को कई तरह से समझा समझाया गया है :—स्व अर्थात् परलिंग का अधिष्ठान, शक्ति का निजी (स्व) स्थान या अधिष्ठान आदि। इसका वर्ण सिन्दूरी है और इसपर बिजली की आभावाली व, भ, म, य, रं, लं नामक छः मात्रिकाएँ अवस्थित हैं। जल इसका तत्त्व है।

१०९—नाभिदेश में स्थित दस दलों वाले तीसरे चक्र का नाम **मणिपूर** चक्र है। अग्नितेज के कारण यह चक्र मणि की तरह द्युतिमन्त है अतः मणिपूर कहलाता है। इसके दलों पर ड, ढ, ण, त, थ, दं, ध, न, प, फ, नाम्नी दस मात्रिकाएँ स्थित हैं। अग्नि का रक्त बीज 'र' इस पर अवस्थित है।[3]

११०—चौथा चक्र **अनाहत** कहलाता है। हृदय देश में स्थित बन्धूक पुष्प के रंगवाले इस चक्र का नाम अनाहत इसलिए है कि यहीं पहुँच कर योगी तालु-कण्ठादि की सहायता बिना उच्चरित होने वाले अनाहत नाद या शब्दब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसी चक्र में बाण नामकलिंग और

१—स्वयभूलिंग—हठयोगी शरीर में तीन लिंगों की स्थिति मानते हैं—स्वयंभूलिंग, बाणलिंग तथा इतरलिंग। इन्हीं लिंग त्रय का भेदन करके सहस्रारस्थ परशिव से सामरस्य की अभिलाषा रखने वाली कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमन करती है (दे० 'षट्चक्र निरूपण, श्लोक ५१) मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थ के बीच जुड़ता है वहाँ अग्नि नामक चक्र है। स्वयभूलिंग इसी चक्र में स्थित है। षट्चक्र निरूपण, ५१ की टीका करते हुए बताया गया है कि अग्निचक्र मूलाधार स्थित कमल की कर्णिका में स्थित है अत. स्वयभूलिंग को मूलाधार में स्थित माना जाता है।

२—दे० षट्चक्रनिरूपण, श्लोक १—१३।

३—दे० वही, श्लोक १९–२१।

जीवात्मा (पुरुष) का निवास है। इसमें बारह दल हैं जिन पर कं, खं, ग, घ, ङ, चं, छ, ज, झं, ञ, ट, ठ नामक मात्रिकाएँ स्थित हैं। अपने तीन गुणों से युक्त ओंकार यहीं रहता है। यह चक्र वायुतत्व का केन्द्र है। 'य' इसका बीज है।[1]

१११—पाँचवें चक्र का नाम विशुद्ध या विशुद्धाख्य है। वाग्देवी भारती का यह स्थान है। क्योंकि कण्ठ सरस्वती का आवास है और यह चक्र उसी कण्ठ के मूल (अधोदेश) में स्थित है। इसके सोलह दलों पर सभी स्वरों– अं, आ, इ, ईं, उ, ऊं, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐं, ओं, औं की मात्रिकाएँ स्थित हैं। यहाँ पहुँच कर जीव विशुद्ध हो जाता है अतः इसे यह नाम दिया गया है।[2]

११२—मूलाधार से लेकर कण्ठमूल में स्थित विशुद्ध चक्र तक जिन पाँच चक्रों का विवरण अब तक दिया गया है वे ऐसे केन्द्र हैं जिनमें स्थूलतत्त्व क्रमशः सूक्ष्मतत्त्वों में विलीन होते चलते हैं। इस प्रकार मूलाधार में गंध तन्मात्र, पृथ्वीतत्व, घ्राणेन्द्रिय तथा चरण (कर्मेन्द्रिय) का विलय होता है, स्वाधिष्ठान में रसतन्मात्र, अपतत्त्व, स्वादेन्द्रिय और हाथ (कर्मेन्द्रिय) का विलय होता है। मणिपूर में रूपतन्मात्र, तेज (अग्नि), तत्व, दृग और गुदा का, अनाहत में स्पर्शतन्मात्र, वायुतत्व, स्पर्शेन्द्रिय एवं लिंग का, तथा विशुद्ध चक्र में शब्द-तन्मात्र, आकाशतत्व, श्रवणेन्द्रिय तथा मुख का विलय हो जाता है।

११३—अन्तिम और छठाँ चक्र आज्ञाचक्र कहलाता है। यह भ्रूमध्य में स्थित दो दलों का कमल है जिन पर ह, क्ष की मात्रिकाएँ अवस्थित हैं। इस चक्र में मन और प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्व अध्यवसित रहते हैं। इस चक्र में पहुँचकर साधक को ऊपर से गुरु की आज्ञा सुनाई पड़ती है अतः इसे आज्ञाचक्र कहा जाता है। यहाँ आकर नागरी वर्णमाला के पचासों अक्षर समाप्त हो जाते हैं। यह चक्र हंसरूप परमशिव का निधान है। इस चक्र में इतरलिंग की स्थिति मानी जाती है। यहाँ पहुँच कर योगी अद्वैताचारवादी हो जाता है।[3] ये ही षट्चक्र हैं। योगसाधना से उद्बुद्ध कुण्डलिनी इन्हीं छः चक्रों को क्रमशः वेधती हुई ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रार–अर्थात् हजार दलों वाले कमल में पहुँच कर परमशिव से सामरस्य स्थापित करती है और उन्मनी की भेदभाव हीन तथा अमरतादायिनी

१—दे० षट्चक्र निरूपण, श्लोक २२-२७।
२—वही, श्लोक २८-३१।
३—वही, ३२-३९।

तारी लग जाती है—उनमनि मंडप निरवान देव। सदा जीवं न भाव न भेव॥[1]

२—षोडश आधार

११४—हठयोग के अनुसार पैर के अगूठे से लेकर आँखों तक सोलह आधार स्थित हैं। गोरक्षपद्धति में इन आधारों की जानकारी को अनिवार्य बताया गया है लेकिन इनके सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी गई है। हठयोग में सम्भवतः आधारों की जानकारी इतनी अनिवार्य थी कि इसे हर छोटा बड़ा साधक जानता ही था। सिद्ध सिद्धान्त सग्रह से इन आधारों के सम्बन्ध में थोड़ी जानकारी मिलती है। गोरक्ष पद्धति के टीकाकार पण्डित महीधर शर्मा ने 'गुरु कृपा' से प्राप्त जिस जानकारी का उल्लेख किया है वह सिद्ध-सिद्धान्त सग्रह वाली सूचना से पूरी तरह मेल खाती है।

११५—आधारों में पहला पादांगुष्ठाधार कहलाता है। हठयोगियों का विश्वास है कि इस पर एकाग्र दृष्टि करके ज्योति चैतन्य करने से दृष्टि स्थिर होती है।[2] दूसरा आधार मूलाधार कहलाता है जो अग्नि को दीप्त करता है।[3] दूसरे तथा तीसरे आधार हैं गुह्याधार तथा विन्दुचक्र जिनके संकोच विस्तार के अभ्यास द्वारा अपानवायु को वज्र गर्भ नाड़ी में प्रविष्ट कराकर विन्दु चक्र में पहुँचाया जा सकता है।[4] ऐसा करने से वीर्यस्तम्भन की शक्ति बढ़ती है और वज्रोली[5] की साधना के समय वीर्य को योनि में स्खलित कर पुनः खींच कर वज्रनाड़ी द्वारा विन्दु स्थान में पहुँचाया जा सकता है।

१—नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ० ५८।

२—तुलनीय पादागुष्ठाग्रपर ध्यायेच्चेन्नस्वत्प्रथम यदि।
दृष्टि स्थैर्यं समायाति नैरन्तर्येण निर्मला॥—सिद्धसिद्धान्त सग्रह, २,१४।

३—सिद्धसिद्धान्त संग्रह में इसका यह नाम नहीं बताया गया है—
मूलसूत्र समालम्ब्य स्थातव्यं पादपार्ष्णिना।
यदातदा नीमाधारो द्वितीयोग्नि प्रदीपन॰॥—वही, २, १५।

४—सि० सि० पद्धति में तीसरे आधार का नाम और चौथे का उल्लेख नहीं मिलता। तीसरे की विशेषता अवश्य बताई गई है—
विकास संकोचन तो गुदामाकुचपेद्यदा।
तृतीयाधार उक्तस्तदपान स्थैर्यकारकः॥—वही, २, १६।

५—दे० आगे, सहजोगी और वज्रोली

पाँचवाँ नाड्याधार या उड्डीयान बन्धाधार है पश्चिमतान आसन बाँधकर गुदा को सकुंचित करने से मलमूत्र और कृमि का विनाश होता है।[1] छठाँ नाभिमण्डलाधार है जिसमे चैतन्य ज्योतिःस्वरूप का ध्यान करने से तथा ओंकार के जाप से नाद की उत्पत्ति होती है।[2] हृदयाधार सातवाँ आधार है। इसमें प्राणवायु का रोध करने से हृत्कमल विकसित होता है।[3] आठवाँ कण्ठाधार है। ठुड्ढी को हृदयदेश पर दृढ़तापूर्वक अवस्थित करके ध्यान करने से इड़ा और पिंगला में प्रवाहित होने वाला वायु स्थिर हो जाता है।[4] नवाँ आधार कण्ठमूल में स्थित क्षुद्रघण्टिकाधार है। गले में स्थित काकल या कौवे के नाम से जानी जाने वाली लिंगाकार दो लोरे ही क्षुद्रघण्टिकाधार हैं जहाँ जीभ को उलटकर पहुँचाने से ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमण्डल से निरन्तर झरता रहने वाला अमृत रस पीना सहज हो जाता है।[5] दसवाँ तालवन्ताधार है[6] जिसमें जिह्वा को चालन और दोहन द्वारा लम्बी करके अगर प्रवेश कराया जाय तो खेचरी 'मुद्रा की सिद्धि होती है। ग्यारहवाँ आधार रसाधार कहलाता है। यह जिह्वा के अधोभाग में स्थित माना जाता है। प० महीधर शर्मा ने इसे जिह्वा का आधो भागाधार

१—तुलनीय—नाड्याधारे पचमे तु सन्निवेश्य मनोनिलम्।
जारण भवति क्षिप्र योगिना मलमूत्रयोः॥ सि० सि० स २,१९।

२— ,, नाभ्याधारे तथा षष्ठे प्रणवोच्चारण क्रियाम्।
कृत्वैकाग्रेण मनसा नादोदय मुपैत्यलम्॥ वही, २,२०।

३— ,, सप्तमे हृदयाधारे प्राणवायु निरोधयेत्।
यदातदैवाम्बुरुहं विकाशमधिगच्छति॥ वही २,२१।

४— ,, कण्ठाधारेऽष्टमे कण्ठ चिबुकेन निपीडयेत्।
इडापिंगलयोर्वायुस्थैर्यभावस्तदा भवेत्॥ वही, २,२२।

५— ,, नवमे घण्टिकाधारे जिह्वा सघट्टयेत्क्रमात्।
सुधाकलापरिस्रावस्तदा स्यादमरत्वदः॥ वही २,२३।

६—जिह्वाचालन दोहाभ्या दीर्घीकृत्यनिवेशयेत्।
दशमाधार ताल्वन्त' काष्ठाभवति सा परा॥ वही, २,२४।
'गोरक्षपद्धति' के टीकाकार पण्डित महीधर शर्मा ने इसका नाम जिह्वा-मूलाधार कहा है। लगता है इन आधारों के नाम उतने महत्वपूर्ण नहीं थे क्योंकि सिद्धसिद्धात सग्रह में भी तीसरे चौथे आधारों का नाम नहीं दिया गया है।

७—दे० आगे, मुद्रा

कहा है। अगर इसे जिह्वाग्र से मथन किया जाय तो परमानन्द सन्दोहकारिणी कविता स्फुट हो जाती है।[1] बारहवाँ **ऊर्ध्वदन्तमूलाधार** है जिसपर जिह्वाग्र को बलपूर्वक दबाने से क्षणमात्र में व्याधियाँ क्षीण हो जाती हैं।[2] तेरहवाँ **नासिकाग्राधार** है। इस पर दृष्टि बाँधकर देखने से मन में स्थिरता आती है।[3] चौदहवाँ **नासामूलाधार** है जिस पर लगातार छः महीने तक दृष्टि स्थिर करने से ज्योति प्रत्यक्ष होती है।[4] पन्द्रहवाँ **भ्रूमध्याधार** कहलाता है। अगर आँखों को ऊर्ध्व रखकर इसपर देखने का अभ्यास किया जाय तो सामने उज्ज्वल किरणों के दर्शन होते हैं।[5] कहते हैं यही आधार मन को सूर्याकाश (दे० आकाश) में लीन कराने वाला है। सोलहवाँ और अन्तिम आधार है **नेत्राधार**। अँगुली से आँख के अपागों को ऊपर की ओर चलाने से ज्योतिपुंज का दर्शन होता है।[6]

पण्डित महीधर शर्मा ने उक्त सोलह आधारों के अन्य नाम भी गिनाये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, बिन्दु, अर्द्धेन्दु, रोधिनी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिका, समनी, रोधिनी तथा ध्रुवमण्डल।[7] षट्चक्रनिरूपण में एक तीसरी सूची भी मिलती है जिसके अनुसार सोलह आधार हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, अज्ञाचक्र, बिन्दु, कलापद, निबोधिका, अर्धेन्दु, नाद, नादान्त, उन्मनी, विष्णुवक्त्र, ध्रुवमण्डल और शिव।[8]

१—एकादशे रसाधारे जिह्वाग्र मथनात्स्फुटम्।
परमानन्दसन्दोहकारिणी कविता भवेत्॥ सि० सि० संग्रह, २,२५।

२—द्वादशोर्द्ध्व रदाधारे जिह्वाग्र ग्रथयेदृढम्।
व्याधयः क्षणमात्रेण परिक्षीणा भवन्त्यलम्॥ वही, २, २६।

३—त्रयोदशो नासिकाख्य आधारो यः प्रकीर्तित'।
तदग्र लक्षयेन्नित्य मनो भवति सुस्थिरम्॥ वही, २, २७।

४—कपाटाकारमाहुर्यन्नासामूल चतुर्दशम्।
तत्र दृष्टि निबन्धेन षण्मासाज्ज्योतिरीक्षणम्॥ वही, २, २८।

५—भ्रुवाधार पञ्चदश पश्येच्चेदूर्ध्वचक्षुषा।
पुरोऽवलोकयेच्छीमान् किरणाकारमुज्ज्वलम्॥ वही, २, २९।

६—षोडश नयनाधारमूर्ध्वभागे प्रचालयेत्।
अगुल्या चेदपागे स्वे ज्योति.पुंजं प्रपश्यति॥ वही, २, ३०।

७—गोरक्षपद्धति, पृ०

८—षट्चक्रनिरूपणम् (सर्पेण्ट पावर, वुडरफ़) में संग्रहीत पृ० ४७।

३. दो लक्ष्य

११६—गोरक्ष पद्धति में जिन दो लक्ष्यों की जानकारी को हठयोगी के लिए अनिवार्य बताया गया है पण्डित महीधर शर्मा के अनुसार उन्हें बाह्यलक्ष्य एवं आभ्यंतरलक्ष्य कहा जाता है। सिद्धसिद्धान्त सग्रह में तीन लक्ष्यों की बात की गई है। लगता है ध्यान को स्थिर करने के अभ्यास के लिए इन लक्ष्यों का विधान किया गया है।

४. व्योमपंचक

११७—हठयोगी के लिए जिन पाँच आकाशों की जानकारी अनिवार्य है उनके नाम हैं—आकाश, प्रकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश 'आकाश' श्वेत वर्ण ज्योतिरूप है, उसके भीतर 'प्रकाश' है जो रक्तवर्ण ज्योतिरूप है, इसके भी भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप 'महाकाश' है, इस महाकाश के भीतर नीलवर्ण ज्योतिरूप तत्त्वाकाश है और इसके भी भीतर विद्युत के वर्णवाला ज्योतिस्वरूप सूर्याकाश है।

मूलाधार स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहत।
विशुद्धमाज्ञाचक्रं च बिन्दुर्भूयः कलापदम्॥
निबोधिका तथार्धेन्दुर्नादो नादान्त एव च।
उन्मनी विष्णुवक्त्रच ध्रुवमण्डलिकाशिवः॥
इत्येतत् षोडशाधारं कथितं योगि दुर्लभम्॥

उन्मनी सम्बद्ध प्रसंग

[ख]

संत-साहित्य के प्रसंग

●

सुखमनी

११८—संतों ने सुखमनि, सुखमना, सुषमनी, सुखमनि नारी आदि शब्दरूपों का बहुशः प्रयोग किया है और अपनी वृत्ति के अनुसार उनसे यथावसर कई-कई अर्थ निकालने का प्रयास किया है। वैसे इतना स्पष्ट है कि इस शब्द का प्रयोग अधिकांशतः योगप्रख्यात सुषुम्ना नाड़ी के अर्थ में ही अधिक हुआ है और सुखमनि तथा उसके उक्त अन्य ध्वनिरूप मूलतः सुषुम्ना या सुषुम्णा के ध्वनिपरिवर्तित रूप ही हैं, फिर भी 'उन्मनी' की ही तरह संतों की सुखमनी भी उनकी अपनी चीज़ है और सन्तों ने इसको पर्याप्त नई अर्थशक्ति से समृद्ध किया है।

११९—सुषुम्णा शब्द का सब से पुराना प्रयोग वेद में मिलता है। वहाँ सूर्य की सात प्रमुख किरणों में से एक किरण का नाम सुषुम्णा बताया गया है। उसी किरण के द्वारा सूर्य चन्द्रमा को प्रकाशित करता है। स्पष्ट है कि हठयोगी नाथों, सिद्धों और संतों के साहित्य में प्रयुक्त सुखमनि या सुषुम्ना का अर्थ वेदोक्त सुषुम्णा के अर्थ से बिल्कुल भिन्न है किन्तु लगता है इन दो भिन्न अर्थों का कभी सम्बन्ध अवश्य था जो अब विस्मृत हो गया है।

वेद की सुषुम्णा का सूर्य और चन्द्रमा से सीधा सम्बन्ध है। योग की सुषुम्ना का भी सूर्य और चन्द्रमा से, वैसा न सही, पर घना सम्बन्ध अवश्य है। आगे सूर्य और सोम की समीक्षा के प्रसंग में हम देखेंगे[1] कि इड़ा और पिंगला को योग में क्रमशः चन्द्र और सूर्य नाड़ी कहा जाता है। सुषुम्णा इनके बीच में स्थित मनोवहा नाड़ी है। सो स्पष्ट है कि सूर्य, चन्द्र और सुषुम्ना का वेदोक्त सम्बन्ध किन्हीं विशेष स्थितियों में थोड़ा भिन्न होकर भी बना हुआ है।

१—दे० सूर्य और चन्द्र ('योग तथा हठयोग' के अन्तर्गत) पैरा ४५–४६।

१२०—योग-साहित्य के अनुसार मेरुदण्ड के भीतर तीन नाड़ियों की स्थिति है—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। सुषुम्ना बीच की नाड़ी है। योगशिखोपनिषद् मे बताया गया है कि इस सुषुम्ना को कुछ लोग 'आधार' और 'सरस्वती' भी कहते हैं। इसी आधार से विश्व उत्पन्न होता है और इसी मे विलीन हो जाता है। इस आधार शक्ति के निद्रित होने पर ही सारा विश्व निद्राग्रस्त होता है और यदि इस शक्ति को प्रबुद्ध कर दिया जाय तो सारा संसार प्रबुद्ध हो जाता है। अगर मनुष्य इसे जान ले तो वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। इसे विद्युत्समूह की तरह प्रभामयी बताया गया है। अगर गुरु प्रसन्न होकर इसका ज्ञान करावे तो मुक्ति में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस आधार में स्थित वायु का रोध करने से यह शून्यपदवी या सहस्रार में लीन हो जाती है। इस आधार-वायु के रोध से जो शरीर में प्रकम्प उभड़ता है योगी उसी प्रकम्प से आह्लाद-विह्वल होकर नाचने लगता है। इस वायुरोध से सारा विश्व प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। यह आधार या सुषुम्ना ही समग्र सृष्टि का आधार है और इस में सभी देवता विराजमान रहते हैं, इसी लिये योगी इसका आश्रय लेने की सलाह देता है। इस आधार के पश्चिम भाग मे त्रिवेणी का सगम है। अगर व्यक्ति वहाँ स्नान कर ले या जल पी ले तो वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। इसी आधार में पश्चिमलिंग है जिसका कपाट सदैव बन्द रहता है। अगर उस कपाट को योग द्वारा खोल दिया जाय तो व्यक्ति भवबधन से छूट जाता है। इस आधार के पश्चिम भाग में ही सूर्य-चन्द्र की स्थिति है। वहीं विश्वेश का भी आसन है जिनका ध्यान करके योगी ब्रह्ममय हो जाता है।[1] इड़ा और पिंगला इस सुषुम्ना के बाएँ और दाहिने स्थित हैं और बारी-बारी साँस लेने में सहायता पहुँचाती हैं। नाक के दाएँ छेद से जब साँस चलती है तो उस समय इड़ा काम करती रहती है और जब साँस दाहिने छेद से चलती है तब पिंगला। सामान्य स्थिति में ये दोनों नाड़ियाँ ही श्वास-प्रश्वास को चालित रखती हैं। सुषुम्ना सुषुप्त अवस्था में पड़ी रहती है। सुषुम्ना का शाब्दिक अर्थ ही है 'सुषुप्त' या 'सोई हुई'। योग-साधना के द्वारा ही इसे जगाया जाता है। जब यह जगती है और इड़ा पिंगला के मार्ग से प्रवाहित होनेवाले प्राणापानादि वायु सुषुम्ना से होकर प्रवाहित होने लगते हैं तो मन की सारी चचलता नष्ट हो जाती है, सूर्य चन्द्र आपस में लय हो जाते हैं और योगी की समाधि लग जाती है। हम उन्मनी के प्रसंग में काफी विस्तार से देख आए हैं कि वायु के मध्यमार्ग (सुषुम्नामार्ग) से संचारित होने पर जो मनःस्थैर्य आता है हठयोगी उसी को 'मनोन्मनी' अवस्था

१—योगशिखोपनिषद् २२–२३, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, पृ० ३७१–७२।

कहता है। योगशिखोपनिषत् का कहना है कि जब सुषुम्ना में पहुँच कर प्राण-स्थिर हो जाते हैं सूर्य चन्द्र का सामरस्य या मेल तभी होता है। उस समरस भाव को जानने वाला ही सच्चा योगी होता है। अगर योगी सुषुम्ना में एक या आधे क्षण के लिये भी स्थिर हो जाए और उस में नमक-पानी की तरह एकमेक हो सके तो उसकी सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सारे संशय परमाकाश में पहुँचकर समाप्त हो जाते हैं और योगी को परमगति प्राप्त हो जाती है। गगा या गंगासागर में स्नान करके तथा मणिकर्णिका घाट पर दण्डवत् करके जो पुण्य और सुख मिलता है वह सुषुम्ना में अधिष्ठित होने से प्राप्त सुख के सोलहवें अंश की भी बराबरी नहीं कर सकता। योगी इस सुषुम्ना को ही परम जप, परम ध्यान और परागति मानता है। ब्रह्मरन्ध्र के महास्थान में जो शिवा वर्तमान रहती है मध्यमा में प्रतिष्ठित ये शिवा ही चित्शक्ति और परमादेवी है। हाथ के आघात से जैसे गेंद चचल हो उठता है प्राणापान की गति से जीव उसी तरह चंचल रहता है पर यदि प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर जाएँ तो वे स्थिर हो जाते हैं।[1] उद्बुद्ध कुण्डलिनी इसी मार्ग से होकर षट्चक्रों को भेदती हुई सहस्रारस्थ परमशिव से सामरस्य स्थापित करती है।

१२१—सन्तों ने अपनी साखियों, सबदियों, पदों आदि में जिस सुखमनी या सुखमनि नारी का बहुश. उल्लेख और गुणगान किया है वह मूलतः योग की उक्त सुषुम्ना नाड़ी का ही अर्थ देती है। उनके अधिकांश प्रयोग और यदि आग्रहपूर्वक समझा जाय तो सारे प्रयोग इसी अर्थ में हुए हैं। उदाहरण के लिये हम दो एक पदों को ले सकते हैं।

(१) सतों धागा टूटा गगन विनसि गया सबद जु कहा समाई।
एहि ससा मोहिं निस दिन व्यापै कोई न कहै समझाई॥
नही ब्रह्माण्ड पिंड पुनि नाहीं पचतत्त भी नाहीं।
इला पिंगला सुखमनि नाहीं एक गुण कहाँ समाहीं॥[2]—कबीर

(२) ऐसा ध्यान धरो वरो बनवारी, मन पवन दै सुखमन नारी।
सो जप जपो जो बहुर न जपना, सो तप तपौ जो बहुरि न तपना॥[3]

(३) बक नाल जब सहजि समाय। नानक पेट दिया नाड़ी की जाय।
इड़ा पिंगला नाड़ी कीआ। सुषमन के घर जाय समीआ॥[4]

१—योगशिखोपनिषत् ३५—५२, वही, पृ० ३७२।

२—कबीर ग्रन्थावली पद ११३, पृ० ६६—६७।

३—रैदास जी की बानी, पृ० २६।

४—श्री प्राण संगली, पूर्वार्द्ध प्रथम भाग, पृ० ६८।

उक्त उद्धरणो में सुखनि और सुखमनि नारी के प्रयोग स्पष्टतः सुषुम्ना के अर्थ में ही हुए हैं।

१२२—योग में सुषुम्ना को शून्य पदवी कहा गया है और इड़ा पिंगला की अपेक्षा इसे सूक्ष्म माना गया है। सतों ने इस अर्थ के द्योतन के लिए इसके 'सूषिम' रूप का प्रयोग किया है और जैसा हम अभी देखेंगे ध्वनिसाम्य यदि किसी मिलते-जुलते शब्द के अर्थ की सभावना पैदा करता हो तो सन्त किसी शब्द में वह अर्थ भर देना आवश्यक-सा मानते हैं। अतः सूषिम से एक ओर जहाँ उन्होंने 'सूक्ष्म' का अर्थद्योतन कराना चाहा है वहीं 'सुखिम' में सुखपूर्ण जैसे अर्थ की छौंक भी देनी चाही है। हम अभी-अभी देख आए हैं कि योग सुषुम्ना को अक्षय सुख का भाण्डार मानता है अतः सुखिम से सतों द्वारा निकाला गया यह अर्थ उस दृष्टि से पर्याप्त सगत भी है और वक्तव्य की दृष्टि से पुराना भी। लेकिन एक बात सतों की एकदम नई है कि योग में सुषुम्ना को सूक्ष्म और सुखका अधिष्ठान तो अवश्य माना गया है पर यह सब वर्णन के स्तर पर कथित है शब्दार्थ के स्तर पर अभिव्यक्त नहीं। जबकि सतों ने इसे सूक्ष्म या सुखपूर्ण कह कर समझाने की जगह 'सुषिम' शब्द में ही उक्त अर्थों को भर दिया है इस प्रकार सुषिम से सुषुम्ना, सूक्ष्म, तथा सुखपूर्ण जैसे तीन-तीन अर्थों का द्योतन सफलतापूर्वक कराया है। दो-एक उदाहरण लिये जा सकते हैं। सूखिम मारग के प्रसग में कबीर कहते हैं—

प्रान पिंड को तजि चला मुआ कहै सब कोइ।
जीव अछत जामें मरै, सूखिम लखै न कोइ॥[1]

अर्थात् प्राण पिण्ड को छोड़कर चल देता है तो लोग कहते हैं अमुक व्यक्ति मर गया लेकिन जिस प्राण के रहते हुए भी मरा जा सकता है (अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त की जा सकती है) ऐसे सुषुम्ना के उस सुखपूर्ण और सूक्ष्म मार्ग को कोई देख नहीं पाता। इसी प्रकार इसी प्रसग से सम्बद्ध एक अन्य साखी में उन्होंने कहा है कि सासारिक द्वन्द्वों में फँसा हुआ जीव सुषुम्ना के सुखपूर्ण किन्तु सूक्ष्म प्रीति या स्मृति (सुरति)[2] के प्रसार (जाल) को समझ नहीं पाता क्योंकि वह आत्मा (अहकार) अदृष्ट (=भाग्य) और काल के चक्करों में लगा रहता है। अगर उस प्रसार को समझना है तो कबीर की मानो और आतम, अदिस्ट तथा काल से अतीत होकर इसे जानो—'कबीर सूषिम सुरति का जीव न

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७४, साखी ११।

२—सुरति के उक्त अर्थों के लिये दे० सुरति-निरति

जानैं जाल । कहै कबीरा दूरि करि, आतम अदिष्ट काल ।[1] 'नानक का एक प्रयोग है' सुन्न का महरम को बिरला होवै । सुखमन जागै सहजै सोवै ।[2] अर्थात् शून्य के मर्म को जानने वाला कोई बिरला ही होता है और जो इस मर्म को जानता है वह सुषुम्ना की सूक्ष्म भूमि पर सुखी मन से जागता और सहज रीति से सोता है।

अस्तु । बाहर-बाहर से ये अर्थ बलात् आरोपित लग सकते हैं। पर सन्त-साहित्य का मर्मज्ञ इन अर्थों से असहमति व्यक्त करने की सुविधा में नहीं होगा इसका मुझे पूरा भरोसा है।

१२३—ऊपर नानक वाले उद्धरण का अर्थ करते हुए हमने देखा है कि वहाँ सुखमन का एक अर्थ 'सुखीमन' भी स्पष्ट आभासित हो रहा है। हमने उन्मनी के प्रसग में लक्ष किया है कि अपभ्रंश की 'इ' विभक्ति तृतीया और सप्तमी (अर्थात् करण और अधिकरण कारक) दोनों में प्रयुक्त होती है। सुषुम्ना का अपभ्रंश रूप 'सुखमन' होगा। इसमें 'इ' विभक्ति लगने से सुखमनि शब्द बनता है। प्रारम्भ में 'इ' इस शब्द के स्त्रीलिंग प्रयोग की सूचना देने के लिये लगी होगी, क्योंकि नाड़ी स्त्रीलिंग शब्द है और सुखमन एक नाड़ी विशेष का नाम है। बाद में इससे और अर्थ निकल सकने की सम्भावना देखकर सन्तों ने 'इ' को विभक्तिवत् मानकर इसका अर्थ बैठा लिया—'वह मार्ग जिससे मन में सुख बना रहे' कबीर का प्रयोग है[3]—

> अवधू मेरा मनु मतिवारा ।
> उनमनि चढ़ा गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजिआरा ॥
> गुड़ करि ग्यान ध्यान करि महुआ मी भाठी मनधारा ।
> सुखमनि नारी सहज समानी पीवै पीवन हारा ॥ १ ॥

इस में प्रयुक्त 'सुखमनि' से 'सुषुम्ना', 'सूक्ष्म', 'सुखी मन से,' तथा 'मन में सुखी' जैसे चारों अर्थ स्पष्ट ध्वनित हो रहे हैं। सुखमनि के इस तरह के विभिन्न अर्थों को ध्वनित करने वाले प्रयोग सन्त-साहित्य में पदे-पदे मिलते हैं। जहाँ यह सुखमन रूप में प्रयुक्त होता है वहाँ सुषुम्ना सुखीमन और सूक्ष्म अर्थ साथ-साथ ध्वनित होते हैं।

१—वही, साखी १६ ।
२—प्राणसंगली, पृ० १२३, पद ७७ ।
३—कबीर ग्रन्थावली पद ५६, पृ० ३२ ।

जहाँ तक सुखमन से ध्वनित होने वाले सुखीमन वाले अर्थ का सम्बन्ध है श्री प्राण सगली में ६८ हाटों का वर्णन करते हुए उसे पूरी तरह अभिप्रार्थ में व्यक्त किया गया है। नानक का कहना है कि 'सुषमन राता करै अनद। काम क्रोध त्यागै सब निन्द।

अनद कलौलनि इहु मन राता। सीतल भया गया सब ताता ॥
तामस तिष्णा मन ते गई। जब सुष्मन की सोझी पई ॥
इला पिंगला सुष्मन सूझी। तब मन गुहज कथा सम बूझी ॥
सुख का हाट सुष्मना कीना। नानक तहि सुख डेरा लीना ॥[1]

इसमें सुषुम्ना, सुखी मन, सूक्ष्म (गुहज) आदि सभी अर्थों से सन्तों के परिचय का अच्छा प्रमाण उपलब्ध है। मन में स्थित ये अर्थ उनके प्रयोगों में ध्वनित हों यह नितान्त प्रकृत है। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस तरह के अर्थों के प्रति कोई-कोई सन्त ही सचेष्ट हो सो बात नहीं। न्यूनाधिक मात्रा में ऐसे अर्थों का सकेत देने वाले प्रयोग प्रायः हर सत की कृतियों में मिलते हैं।

१२४—सिख गुरुओं के साहित्य में सुखमणि, सुखमनी, सुखमणा, सुखमण, सुष्मण, सुखमना आदि रूपों तथा ऊपर निर्देशित अर्थों में इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। लक्ष करने की बात है कि यहाँ इस शब्द को एक नयी अर्थगरिमा और पूज्यभाव भी दे दिया गया है। ध्वनिसाम्य के आधार पर शब्दों में नए अर्थ भरने की वृत्ति सन्तों में बहुत ही प्रबल है। कम पढ़े-लिखे सहृदय लोगों और बहुत पढ़े-लिखे विदग्धजनों में यह वृत्ति समान रूप से पाई जाती है। खैर, सुषमनि के प्रसग में इस वृत्ति ने सुन्दर चमत्कार उपस्थित किया है।

सुखमणि का 'मणि' अंश यों तो सस्कृत 'सुषुम्णा' के 'म्णा' का घिसा हुआ रूप है किन्तु संस्कृत के मणि से स्वरूप-साम्य होने के कारण सिख गुरुओं ने चिन्तामणि की तरह ही सुखमणि नाम की एक काल्पनिक मणि की उद्‌भावना कर ली है और जिस प्रकार चिन्तामणि का ध्यान करने से, माना जाता है कि, तत्काल अभिलषित वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार सुखमणी के ध्यान से भी जन्म-मरण का दुःख नष्ट हो जाता है, दुर्लभ देह प्राप्त हो जाता है, तत्क्षण-उद्धार हो जाता है, दुःख, रोग, भय, भ्रम आदि नष्ट हो जाते हैं। इस सुषमनी के और भी अनेक गुण हैं। शोभा में तो वह अप्रतिम और सर्वोच्च है। इस

१—श्रीप्राण संगली, पृ० ४३ पद ६८।

सुखमनी के माहात्म्य का वर्णन करते हुए गुरु अर्जुन देव का कहना है कि—

जनम मरन ताका दुःख निवारे। दुल्लह देह तत्काल उधारे।
दुःख रोग बिनसे भै भरम। साध नाम निरमल ताके करम ॥
सबते ऊँच ताकी सोभा बनी। नानक ये गुननाम सुखमनी ॥[१]

गुरु अर्जुन देव ने भक्तजनों के मन में विश्राम करने वाले प्रभु के सुख और अमृतस्वरूपी नाम को ही सुखमनी कहा है—

सुखमनी सुख अमृत प्रभ नामु। भगत जना कै मनि बिस्रामु ॥
प्रभ के सिमरनि गरभि न बसै। प्रभ के सिमरनि दूखु जमु नसै ॥[२] आदि

इसी बात को एक अन्य स्थल पर उन्होंने और स्पष्टता से सामने रक्खा है—

सुखमनी सहज गोबिन्द गुननाम। जिसु मनि बसे सु होत निधानु ॥
सरब इच्छा ताकी पूरन होइ। प्रधान पुरखु प्रगटु सम लोइ ॥
सभते ऊँच पाए असथानु। बहुरि न होवे आवन जानु ॥
हरिधनु खाटि चलै जनु सोइ। नानक जिसहि परापति होइ ॥[३]

१२५—सिखों में इधर सुखमनी का एक और अर्थ विकसित हो गया है—मन को आनन्द देने वाली वह वाणी जिसका पाठ प्रातःकाल 'जपुजी' के पश्चात् किया जाता है। गुरुग्रन्थसाहब में संग्रहीत यह 'सुखमनी' पाँचवें गुरु अर्जुनदेव जी की सर्वाधिक प्रसिद्ध, सुन्दर, सरस और आनन्ददायिनी रचना है। इसमें कुल २४ अष्टपदियाँ हैं और हर अष्टपदी में ८० पक्तियाँ। इस प्रकार यह काफी लम्बी रचना है। आजकल 'सुखमनी' शब्द को सुनकर किसी भी पजाबी, मुख्यतः सिख, के मन में गुरु अर्जुन देव की इसी रचना की स्मृति उभड़ती है।

१२६—और चूँकि गुरु अर्जुन देव की सुखमनी के पद अत्यन्त मधुर एव प्रसादगुणयुक्त हैं, उनमें भक्तिभावना की तरल स्नेहधारा का अटूट प्रवाह है, और इसलिये उसके पाठ से मन में सहज आनन्द की अनुभूति होती है अतः सुखमनी का एक और भी नया अर्थ विकसित हो गया है—'मन को सुख देने वाली'। वैसे व्याकरण और शास्त्र दोनों की दृष्टि से सुखमनी से यह अर्थ निकल नहीं सकता, पर सामान्य जनता को व्याकरण या शास्त्र की न उतनी जानकारी होती है न परवा ही, अतः यह नया अर्थ चल पड़ा है।

१—'गुरु शब्द रत्नाकर' स० श्री कानसिंह नाभा, सन् १६६०, पृ० १५७ से उद्धृत।
२—सत सुधासार, स० वियोगी हरि, खण्ड १, पृ० ३५४।
३—सत सुधासार, पृ० ३७०।

अनहद

१२७—यह शब्द सन्त-साहित्य में अनहद, अनाहद, बेहद, हद नहीं रूपों में प्रयुक्त हुआ है और 'अनाहतनाद या शब्द' तथा 'सीमातीत' का अर्थ देता है।

योग में शब्द दो मोटी कोटियों में रखकर समझे-समझाए गए हैं—आहत और अनाहत। ध्वनि अवयवों के संकोच विस्तार, घर्षण-उत्क्षेपण अर्थात् जिह्वा, तालु, दन्त, वर्त्स आदि के सचालन एवं आपसी सम्पर्क द्वारा जो शब्द वैखरी वाणी (व्यक्तभाषा) के रूप में कहे-सुने जाते हैं, वे आहत शब्द हैं—आहत, अर्थात् ध्वनि अवयवों के घात-प्रतिघात द्वारा किसी स्थान एव प्रयत्न से उद्भूत। इसके विपरीत है अनाहत शब्द। कानों को, अँगुली डालकर बन्द कर देने पर एक प्रकार की घरघराहट का स्वर सुनाई पड़ता है। योगी मानता है कि यह स्वर समष्टि व्याप्त शब्द का व्यष्टि लब्ध रूप है और चूँकि जिह्वा, दन्त, तालु आदि किसी भी ध्वनि अवयव के योग या आघात बिना निरन्तर उठता रहता है अतः अनाहत है। सामान्य स्थिति में व्यक्ति इस अनाहत शब्द के प्रति सचेत नहीं रहता, लेकिन समाधि सम्पन्न होने पर जब चित्त बाह्य विषयों से हटकर अन्तर्मुखी होता है तब यह अनाहत शब्द साफ-साफ सुनाई देता है। हम पीछे काफी विस्तार से देख आए हैं कि उन्मनी अवस्था में पहुँचने पर यही अनाहत नाद शंख दुदुभी मेघ गर्जन आदि के ऊँचे स्वर की तरह सुनाई पड़ने लगता है।[1] यह अनाहत नाद या शब्द देशकाल की सीमाओं से अतीत है। न इसका आदि है न अन्त। इसके ठीक विपरीत आहत शब्द है जो पैदा होता है और फिर विलीन हो जाता है। स्पष्ट है कि अनाहतनाद असीम है और आहतनाद ससीम। और जैसा शुरू में ही कहा गया है सतों ने 'अनहद' का प्रयोग अधिकाशतः शब्द के प्रसग में अनाहतनाद के अर्थ में ही किया है।

१—दे० 'हठयोग की उन्मनी'

१२८—वैसे ध्वनि साम्य के आधार पर शब्दों में नए अर्थ भरने की वृत्ति सन्तों के स्वभाव का अंग है और असीम का अर्थ देने वाला एक बहु प्रचलित विदेशी शब्द 'हद या हद्द' उनको मिल भी गया था अतः और बहुत के साथ उन्होंने इसे भी अपनी लपेट में ले लिया है। अनाहत का लोकभाषा में 'अनहत' जैसा प्रचलन प्रकृत है और इस 'अनहत' को 'अनहद' बना लेना आसान। अतः लोकभाषा तक ही गति रखने वाले संतों ने स्वभाव से भी और अपने लक्षीभूत श्रोता को ध्यान में रख कर भी, अनाहत को अनहद कह कर पुकारा है। इस नये संस्कार का परिणाम यह हुआ है कि मुख्यतः अनाहतनाद का अर्थ देने वाला अनहद अर्थ की दृष्टि से दो कदम आगे बढ़ गया है और अनाहत जहाँ 'नाद' तक ही सीमित था अनहद हर असीम का अर्थबोध करने की क्षमता पा गया है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो कहा जा सकता है कि 'असीमता' अनाहत नाद' की विशेषता थी, जबकि संतों के इन नए संस्कार के परिणामस्वरूप 'असीमता' अनहद में स्वयं 'असीम' बन गई है। अर्थात् अनहद असीम का समशील या पर्याय हो गया है जबकि असीम अर्थ अनाहत का समशील या पर्याय न होकर विशेषण या गुण था। इसके साथ ही अनाहत केवल श्रवण विषय था जबकि अनहद होकर वह सभी इन्द्रियों का विषय बन गया है। यह स्वयं में बड़ी बात है। लेकिन बस। संत अन्य अनेक शब्दों की तरह अनहद को इससे अधिक कुछ नहीं दे सके हैं क्योंकि ध्वनिसाम्य के आधार पर शब्दों में नए अर्थ भरने की संतवृत्ति अनहद शब्द के प्रयोग के समय कुछ मुखर नहीं हुई है।

१२९—जहाँ तक खोज सका हूँ संतों में मुझे ऐसे जोरदार प्रयोग बहुत ही कम मिले हैं, जहाँ अनहद 'केवल' असीम का अर्थ देता हो, या असीम अर्थ एकदम फिट बैठता हो। यह बात और है कि इधर-उधर हाथ-पाँव मार कर उसमें से असीम का अर्थ निकाल ही लिया जाय। केवल दादू में मुझे ऐसे तीन स्थल मिले हैं।[1] जहाँ अनहद का असीम अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'ध्यान' के साथ अनहद का एक प्रयोग है[2]—

"मन बावरे हो अनत जनि जाइ।
तो तू जीवै अमी रस पीवै अमर फल काहे न खाइ॥

१—मैंने दादू का एक ही संग्रह देखा है—'श्रीस्वामी दादू दयाल जी की अनभैवाणी'

२—वही पद १६०, पृ० ५३९।

रहु चरण सरण सुख पावै, देखहु नैन अघाइ।
भाग तेरे पीव नेरे, थीरथान बताइ ॥ १ ॥
सग तेरे रहै घेरे सहगै अगि समाइ।
सरीर मा हैं सोधि साईं अनहद ध्यान लगाइ ॥

यहाँ असीम अर्थ ही हो सकता है, अनाहत नाद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। इस तरह का दूसरा प्रयोग है[1]—

अवधू बोलि निरञ्जन वाणी, तहँ एकै अनहद जाणी।
तहँ बसुधा का बल नाहीं, तहँ गगन घाम नहिं छाहीं ॥
तहँ चन्द सूर नहिं जाईं, तहँ काल काया नहिं भाईं ॥ १ ॥
तहँ रैणि दिवस नहिं छाया, तहँ बाव बरण नहिं माया।
तहँ उदै अस्त नहिं होई, तहँ मरै न जीवै कोई ॥ २ ॥
तहँ नाहीं पाठपुराना, तहँ अगम निगम नहिं जाना।
तहँ विद्या वाद नहिं ग्याना, नहिं तहा जोग अरु ध्याना ॥ ३ ॥
तहँ निराकार निज ऐसा, तहँ जाण्या जाइन ऐसा।
तहँ सबगुण रहिता गहिए, तहँ दादू अनहद कहिए ॥ ४ ॥

यहाँ 'निराकार', 'निज' और 'सबगुण रहिता' जैसे विशेषणों का प्रयोग ब्रह्म के लिये हुआ है। 'अनहद' भी इसी तरह का एक विशेषण है, जो ब्रह्म की असीमता का वाचक है। सबद सख्या ७२ में प्रयुक्त 'अनहद' अनाहत नाद का भी अर्थ दे सकता है और असीम ब्रह्म का भी।[2]

१—वही पद २०८, पृ० ५६४।

२—नीकैराम कहत है बपरा, घर माहँ कर निर्मल राखै, पचौं धोवै काया कपरा।
सहज समर्पण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तट सजम सपरा।
सुन्दरि सनमुख जागण लागी, तह मोहन मेरा मन पकरा ॥
बिन रसना मोहन गुण गावै, नाना वाणी अनभै अपरा।
दादू अनहद ऐसे कहिए, भगति तत्त यहु मारग सकरा ॥ पृ० ४९८।

सन्तों द्वारा प्रयुक्त इस शब्द के विषय में ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है जैसे बेहद की तरह यह असीम का अर्थ देने के लिये ही अनाहत से सतों द्वारा अनहद बना लिया गया हो, वैसे ही जैसे उन्होंने निर्भय, अनुभव तथा अघटित जैसे तीन-तीन अर्थ देने के लिये अनुभव से 'अनभौ' या 'अनभई' बना लिया है। किन्तु दादू के उक्त विरल प्रयोगों के अतिरिक्त ऐसे प्रमाण बहुत कम ही मिल पाएँगे, जिनसे इस सम्भावना की पुष्टि मिले।

जहाँ तक उक्त संभावना की साधारता का सवाल है इसका उदय दो कारणों से हुआ लगता है—एक तो ध्वनि साम्य के आधार पर शब्दों में नए अर्थ भरने की सतों की वृत्ति के कारण, दूसरे हद एवं बेहद के साथ इसके प्रयोग के कारण। जो हो अनहद अधिकांशतः अनाहत नाद या शब्द के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ असीम अनंत आदि का संकेत देना होता है सत वहाँ अरबी के 'हद्द' से निष्पन्न हद, बेहद या 'हदनहीं' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। स्पष्ट है कि योग स्वीकृत अनाहत नाद के प्रति सन्तों में कोई अस्वीकार भाव नहीं है। बस वह हठयोग के अनहद तक सीमित न रहकर उससे आगे बढ़ गया है।

सुरति-निरति

१३०—सुरति शब्द सन्त-साहित्य का अतिपरिचित और पग पग पर प्रयुक्त होने वाला शब्द है। परिस्थिति भेद से यह कई-कई अर्थ भी देता है—(१) स्मृति, याद, (२) श्रवण-विषय, (३) स्मृतिशास्त्र, (४) अपने सच्चे स्वरूप की स्मृति, (५) परम प्रेयान से अपने सम्बन्ध की स्मृति—अर्थात् 'सोऽहमस्मि' की वृत्ति का स्मरण या उदय, (६) सुरत, अर्थात् स्त्री-पुरुष, शक्ति-शक्तिमान्, माया ब्रह्म, प्रिय-प्रिया की केलि-क्रीड़ा, (७) प्रेम, आसक्ति, अनुरक्ति, (८) सुन्दर रति या परमात्माविषयक रति, चिन्मुख प्रेम—क्योंकि सामान्य स्त्री-पुरुष की जड़ोन्मुख अर्थात् स्थूल शारीरिक सुषमाओं एव आकर्षणों से उत्थित प्रेमानुभूति रति है और सत्-चित् आनन्द रूप परमप्रेयान् के प्रति उत्थित प्रेम उक्त लौकिक एवं जड़ोन्मुख रति से विशिष्ट होने के कारण 'सुरति' है, (९) सूरत (अरबी) रूप, आकृति, शक्ल, (१०) ध्यान। सन्त-साहित्य में उक्त सभी अर्थों में इस शब्द का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

१३१—(१) सुरति मूलतः संस्कृत के स्मृति शब्द का ध्वनिपरिवर्तित रूप है। संस्कृत में स्मृति का अर्थ होता है (१) पुरानी बातों, वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों या स्थितियों की याद। इस अर्थ में सन्त-साहित्य में इस शब्द का यदा-कदा प्रयोग मिल जाता है, जैसे—'नर के सग सुआ हरि बोले हरि परताप न जानै। जो कबहूँ उड़ि जाय जंगल मे बहुरि सुरति नहिं आनै'—कबीर (क० ग्र० : तिवारी, पद १७९) दादू भी कहते हैं—'जब नाहिं सुरति सरीर की, बिसरै सब संसार। आतमा जाणै आप कौं, तब एक रहा निरधार'

(दा० की अनमै वाणी, पृ० ११३, साखी १५३)। स्मरणशक्ति या याद के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है—दादू हूँ बलिहारी सुरति की, सब की करै सम्हाल। कीड़ी कुंजर पलक में करता है प्रतिपाल' (वही पृ० ३४१)

(२) संस्कृत श्रुति शब्द से भी घिसकर 'सुरति' शब्द बन जाता है, जो श्रवण विषय या श्रवण-शक्ति का अर्थ देता है। सन्तों में इसका इस अर्थ में भी प्रयोग मिल जाता है--'ऐसा कोई ना मिले समझे सैन सुजान। ढोल बजन्ता ना सुने, सुरति विहूना कान' (कबीर ग्रं० : तिवारी, पृ० १५९)। श्रवण विषय अर्थ में दादू की एक साखी है--'सबघट श्रवना सुरति सौ सबघट रसना बैन। सबघट नैना है रहे, दादू बिरहा ऐन' (वही, पृ० ७८)।

(३) स्मृतिशास्त्र के अर्थ में भी इसका बहुत बार व्यवहार हुआ है। यह अर्थ निकालने के लिये बहुधा सन्तों ने इसे सुम्रित या सिम्रित बना दिया है—'का सुनहां को सुम्रित सुनाए। का साकत पहिं हरिगुन गाए' (क० ग्र०, तिवारी, पद, १६८)।

ऊपर संकेतित अर्थ संख्या ४ से ८ सन्तों के चिन्तन और उनकी साधना से गहरे रूप से सम्बद्ध है, अतः उन पर आने के पूर्व इसके सूरत अर्थात् रूप और ध्यान का अर्थ देने वाले प्रयोगों को देख लेना अच्छा होगा। सन्तों ने इन दोनों अर्थों में भी इस शब्द का प्रयोग बहुधा किया है—सूरत रूप— 'सुन्दरि सुरति सिंगार करि, सनमुख परसे पीव। मो मन्दिर मोहन आभिया वारू तन मन जीव' (दादू , वही, पृ० ५४२)। ध्यान, ख्याल या चिन्ता के अर्थ में कबीर का एक प्रयोग है—'दरमादा ठाढ़ो दरबारि। तुमबिन सुरति करै को मेरी दरसन दीजै खोलि किंवारि' ॥ (क० ग्र० : तिवारी, पद ४५) इस अर्थ में परवर्ती हिन्दी साहित्य में भी सुरति शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है—यथा कबहुँक सुरति करत (रघुनायक–तुलसी : रामचरित मानस)। जहाँ तक उक्त अर्थों का सम्बन्ध है, सन्तों द्वारा बहुत बार उन्हें सुरति शब्द द्वारा बोधित कराया गया है, किन्तु इन अर्थों से उनकी साधनापद्धति और चिन्तन-मनन की दिशा का कोई खास सम्बन्ध नहीं है। उक्त अर्थों के संकेत का तात्पर्य यही है सन्त सुरति के इन अर्थों से भी परिचित थे। वैसे सुरति को उन्होंने जिस विशिष्ट अर्थ में स्वीकार किया है, वह काफी सुचिन्तित है और उस सारी चिन्ताधारा से जो अपरिचित है, उनके लिये भ्रामक और कहीं-कहीं नितान्त अटपटा भी लग सकता है।

१३२—हमने लक्ष्य किया है कि संस्कृत स्मृति से घिसकर बनने वाले सुरति शब्द में याद का अर्थ पूरी तरह जुड़ा हुआ है, पर सन्त इसमें प्रेम का मधुर—कोमल अर्थ भी भरते हैं। उन्हें याद करने मात्र से सन्तोष नहीं होता। वे याद में प्रीति को अनिवार्य रूप से जोड़े रखते हैं। जो मात्र स्मरण को महत्व देते हैं, केवल राम नाम के उच्चारण को मुक्ति देने वाला मानते हैं, ऐसे पण्डित इन सन्तों को पहले दर्जे के झूठे लगते हैं। कबीर ने साफ कहा है—'पण्डितवाद बदै सो झूठा। राम कहैं दुनिया गति पावै, खांड़ कहै मुख मीठा॥ पावक कहै पाव जो दाझै जल कहैं त्रिखा बुझाई। भोजन कहैं भूख जो भाजै तौ सब कोई तिरिजाई' आदि (क० ग्र ०, तिवारी पद, १७९)। इस प्रकार इन सन्तों ने सुरति में एक नया अर्थ भरा—जैसी-तैसी सभी यादें सुरति नहीं, रति अर्थात् भाव की सान्द्रता प्राप्त स्थिति वाली स्मृति 'सुरति' है। लेकिन सन्तों को इतना भी नाकाफी लगा। उनकी बात अभी पूरी व्यक्त हो नहीं पा रही थी, क्योंकि रति मूलतः लौकिक या जड़ोन्मुख प्रेम के अर्थ में रूढ शब्द था। सन्तों को यह रति कभी अच्छी नहीं लगी। सन्तों पर नाथपन्थ की हठयोगी साधना का पर्याप्त प्रभाव था। गोरखनाथ 'व्यिन्दु न देवै सुपणे जाण' के कठोरतम सयम के पक्षधर थे। 'यन्द्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा' गोरख के मत से प्रत्यक्ष चूहड़ा था (गो० बा०, सबदी, १५२)। और सन्त शतप्रतिशत इस संयम को स्वीकार करते थे। परिणामतः जड़ोन्मुख—रूप, रग, स्पर्श, गन्धादि के उपभोग की शारीरिक भूख को प्रमुखता देने वाली-रति उनका आदर्श कभी नहीं हो सकती थी। संयोग से स्मृति से घिसकर जो तद्भव रूप बना, वह सुरति था। रति से थोड़ा-सा ध्वनि साम्य मिला नहीं कि सन्तों ने इसे नये तथा भिन्न अर्थ देने वाले 'सुरति' शब्द की नयी व्याख्या कर ली सु + रति=सुन्दर रति। सुन्दर, अर्थात् चिन्मुख। सन्तों के पहले से, सिद्धों और नाथों में भी ध्वनिसाम्य के आधार पर शब्दों में नये अर्थ भरने तथा किसी शब्द के एक-एक वर्ण की नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत कर नयी अर्थवत्ता देने की वृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। सन्तों में इसका अतिरेक मिलता है। सुरति का अर्थ चिन्मुख प्रेम हुआ तो दार्शनिक चिन्तन की परम्परा आगे बढी। ब्रह्म के प्रति पक्की सुरति (प्रीति) तब तक सम्भव ही नहीं थी जब तक भौतिक आकर्षणों की माया में मन अनुरक्त रहे। सहज भाव से उस 'अलख निरजन परमपद' को प्राप्त करने के दावेदार सहज-यानियों को कबीर ने असहज होते देखा था। उनका कहना था—'सहजै सहजै सब गए सुत वित्त कामिनि काम। एकमेक होइ मिलि रहा दास कबीरा राम'

(क० ग्र० तिवारी, पृ० २४२, ३) कबीर के मत से सहज वह नहं था, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा सरह कर गये थे। विषयों का मुक्त रमण और पूर्ण अनासक्ति परस्पर विरोधी बातें हैं। सहजता विषयों के रमण मे नहीं, विषयों के त्याग में है—'सहज सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्है कोइ। जिहि सहजै बिखया तजै, सहज कहावै सोइ' (वही, पृ० २४२,१)। विषयों के त्याग के लिये वैराग्य या निरति आवश्यक है। यह निरति आती है आत्मस्वरूप की सही पहचान से। यह पहचान अपने पारमार्थिक स्वरूप की स्मृति के बिना सम्भव नहीं। जिस दिन जीव जान जाता है कि वह तत्वतः परमात्मा ही है, सोऽहमस्मि की चेतना जब उसमें जगती है, तो क्षुद्र क्षणधर्मा जागतिक प्रपच से उसका मन स्वयमेव विरक्त हो जाता है। यह दूसरी निरति है और उत्तम कोटि की है। इसमें वाह्य विषयों के प्रति 'निरति' और आन्तर विषयों के प्रति आसक्ति का सामरस्य होता है। सन्तों की शब्दावली मे यह 'सुरति-निरतिपरचा' (परिचय) है। इस स्थिति में 'सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार। सुरति परचा भया तब खुलि गया सिंधु दुवार (क० ग्र० : ति, पृ० १७०,२४)। यह सुरति का निरति में समाना हुआ जिससे उस परम प्रियतम के 'बेगमपुरे' का द्वार खुलता है। पर सन्तों ने जहाँ सुरति के निरति मे समाने की बहुशः चर्चा की है निरति को सुरति में समाती भी बताया है। यह प्रथम निरति है। वैसे बात एक ही है बस क्रम उलट गया है। जब सद्गुरु के उपदेश से, मुट्ठी तानकर चलाये गये उसके शब्दवाण से साधक का वाह्यावरण छिद जाता है (क० ग्रं० : ति०, पृ० १२९, २३) और विरह की पीड़ा में वह गीली लकड़ी की तरह सुलगने और धुँधुआने लगता है (क० ग्रं० ति०, पृ० १४१,८) तो सन्त लोग इसी को निरति का सुरति में समाना कहते हैं। यह प्रथम निरति की अवस्था अन्तिम अवस्था नहीं है। अन्तिम तो द्वितीय सुरति है। प्रथम सुरति में जब लौ लग जाती है, तभी सिंहद्वार खुलता है और उस अगमपुर के वासी के दर्शन होते हैं। गुरु के दिखाये रास्ते से चलकर घट में ही अवध मिल जाता है, उसके रूप (सूरत) से परिचय हो जाता है (क० ग्र० : ति०, पृ० १६९,१९)—एक रूप, जो अनन्त है, सीमाहीन, अनवच्छिन्न और अरूप है। और यह कि उस असीम को, अनहद को सीमा की सहायता बिना ही पा लिया जाता है और कबीर को उसका सीमातीत रूप दिख जाता है—'हद छाडि बेहद गया, सुन्नि किया अस्थान। कवल जु फूल्याफूल बिन को निरखै निज दास'। थोड़े स्थूल रूप में दादू को जगत् के एक-एक रूप में उस प्रियतम की सूरत (नूर) दिखने लगती है—

'दादू अलख अलाहका, कुछ कैसा है नूर ।
बेहद वाको हद नहीं, रूप-रूप सब नूर ।'

यही प्रिय के रूप की पहचान और सगति सामरस्य की उस अवस्था तक पहुँचाती है जहाँ आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म, प्रिय और प्रिया एकमेक हो जाते हैं। इस एकमेकत्व या अभिन्न विग्रहत्व का सकेत देने के लिये सन्तों ने सुरति में एक नया अर्थ सुरत (=काम-क्रीड़ा, केलि) भी जोड़ दिया है। सन्त इसी ऊँची स्थिति को बताने के लिए मैथुन-परक उपमाओं, रूपकों एव प्रतीकों का सहारा लेते हैं। सन्त मर्यादावादी थे। कामिनी के अंग के प्रति अरति और राम नाम के प्रति रति या सुरति उन्हें प्रिय थी, पर सुरति का सुरत अर्थ उनके मन में था अवश्य (दे० कबीर ग्र० : ति०, पृ० १५८,४१) बस वे शाक्तों जैसी मैथुनपरक शब्दावली एव विपरीत रति जैसे क्रियाव्यापार का प्रयोग-व्याख्यान नहीं कर सकते थे, पर प्रिय के संग 'सूतने' के अनेक उल्लेख इसी ओर सकेत करते हैं। इसी अवस्था को प्राप्त साधक चाहता है कि वह अपने प्रिय को आँखों में बिठाकर पलकें मूँद ले, न स्वयं किसी की ओर देखे, न प्रिय को अन्यत्र देखने दे (क० ग्र०, ति०, पृ० १७६, १२)। इस अवस्था में एक ओर जहाँ सदैव प्रिय की सुरति (ध्यान, याद) बनी रहती है, वहीं यह प्रार्थना भी फूटती रहती है—'तुम बिन सुरति करै को मेरी' (क० ग्र० : ति०, पद ४५)। इस प्रकार बहुत पहले से ही साधकों द्वारा प्रयुक्त स्मृति शब्द से निष्पन्न सुरति शब्द में सन्तों ने ऊपर संकेतित एव क्रमशः विकसित विभिन्न अर्थों को बड़ी चतुराई से भरा है और इस एक शब्द में एक लम्बे दार्शनिक चिन्तन को सूचित कर दिया है। (बौद्धशास्त्रों में स्मृति का क्या अर्थ किया गया है, इसके लिये दे० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'सहज-साधना' पृ० ७२–७३)।

१२३—निरति–सन्तों ने निरति का एक अर्थ नृत्य भी किया है। नृत्य,जिससे उस परमप्रिय को रिझाया जाता है, नृत्य जो मनुष्य की सीमाओं को तोड़ता है, अन्तस्तल से उत्थित आवेग को अभिव्यक्ति देता है। बाहर-बाहर से देखने पर निरति के दोनों अर्थों—विराग एवं नृत्य में पर्याप्त विरोध दिखता है, पर परमार्थतः उनमें कोई विरोध है नहीं। सासारिक विषयों से परावृत्त मन उस प्रियतम के सम्मुख अपने शुद्ध, प्रेमपूर्ण हृदय की सारी कल्मषहीन कलाको अपनी भक्ति भरी वैराग्य भावना के रूप में खोलकर दिखाता है। इस तरह उस प्रिय को रिझाने का उसका प्रयास सामान्य लौकिक नृत्य से विलक्षण है। यहाँ नृत्य भी होता है, गीत भी गाये जाते हैं, वाद्य भी बजते हैं, पर वस्तुतः नाचने के लिये

पैरों की, बजाने के लिये हाथों की, गाने के लिये जीभ की जरूरत नहीं पड़ती। यह तो भक्त की अपार प्रेमाकुलता से भरी विराग भावना का नृत्य है। कबीर कहते हैं—'पग बिनु निरति करां बिनु बाजा जिभ्या हीना गावै' (क० ग्रं०: ति०, पद १०८)। नृत्य अर्थ में निरति के लिये दे० वही, पद ११४। धरनीदास भी ठीक यही कहते हैं—'बिनु पग निरत करो तहा बिनुकर दै दै तारी। बिनु नैन छवि देखना, बिनु सरवन झनकारि' (सन्त-सुधा-सार, खण्ड २, पृ० ४८)। सन्तों ने यह नया अर्थ नृत्य और निरति के ध्वनिसाम्य के सहारे पर उत्पन्न किया है।

खट करम

१—पुरानी अर्थ-परम्परा

१३४—षट्कर्म शब्द का अर्थ—यात्रा काफी लम्बी और वैविध्यपूर्ण है। हिन्दू धर्म-साधना के साहित्य में साधना-पद्धतियों एवं दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली के भेद के साथ-साथ षट्कर्मों के अन्तर्गत गृहीत होने वाले विभिन्न कर्मों को कई तरह से समझा-समझाया और स्वीकार किया गया है। वैदिक कर्मकाण्डीय विधानों के प्रभुत्वकाल में ब्राह्मण के छः कर्म थे—'अध्यापनमध्ययन यजन याजनं तथा। दान प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः[1]।' लगता है आगे चलकर जब समाज की अर्थ-व्यवस्था जटिल होती गई और वेद का अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करने-कराने, दान लेने और दान देने से ही ब्राह्मण का योगक्षेम कठिन जान पड़ने लगा, तो किसी जमाने में ब्राह्मण के लिये जो कर्म अविहित थे, उन्हें भी नई विधि-संहिताओं में विहित मान लिया गया। अतः षट्कर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण की जीविका चलाने वाले अन्य छः कर्मों का विधान किया गया—'उञ्छ प्रतिग्रहो भिक्षा वाणिज्य पशुपालन। कृषिकर्म तथा चेति षट्कर्माण्यग्रजन्मनः।' 'मनुस्मृति में गृहस्थ ब्राह्मण के पालन-पोषण के लिये स्वीकृत ऋत, अमृत, कर्षण (खेती), सत्यनृत (व्यापार) तथा स्ववृत्ति को भी षट्कर्म की संज्ञा दी गई है।[2] स्पष्ट है कि यहाँ तक षट्कर्म जीवन-यापन के लिये आचरणीय कर्मों का निदर्शक था किन्तु आगे चलकर यह सामान्य जीवन से हटकर धार्मिक आध्यात्मिक आयास का परिचय देने लगा है।

१३५—परवर्ती संहिताओं में षट्कर्म के अन्तर्गत धर्म से सम्बद्ध दैनिक या

१—मनुस्मृति, १०, ७५।

२—वही ४; ४, ५, ६, ९।

आह्निक क्रियाओं की गणना की जाने लगी। इनके अनुसार स्नान, सन्ध्या, जप (प्रातः, दोपहर और शाम को की जाने वाली सन्ध्या) ब्रह्मयज्ञ, तर्पण (ऋषियों और पितरों को जल देना) होम तथा देवपूजा को षट्कर्मों के अन्तर्गत गृहीत किया गया है।[1]

ध्यान देने की बात है कि अबतक षट्कर्मों में जिन विभिन्न कर्मों की गणना की गई है। वे आर्थिक, सामाजिक एव धार्मिक व्यवस्थाओं के क्रमिक विकास या परिवर्तन और तदनुकूल विधि-संहिताओं के निर्माणक्रम की सूचना तो अवश्य देते हैं पर प्रकृतितः उनमें एक दूसरे से कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं आया है।

२—तंत्र और षट्कर्म

१३६—शाक्त तंत्रों में पहली बार दर्शन, आचरण एवं धार्मिक अनुष्ठानगत नितान्त भिन्न अर्थों को षट्कर्म के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। 'गुह्य समाजतंत्र' में शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारण को षट्कर्म बताया गया है।[2] स्पष्ट है कि इन षट्कर्मों का सम्बन्ध शाक्ततंत्रों या वामाचार की यातुविद्या से है। वैसे ये कर्म प्रारम्भ में कुछ अच्छे लक्ष्यों के लिये ही किए जाते होंगे, पर बाद में हीनवृत्ति वाले साधकों ने इनका प्रभूत मात्रा में दुरुपयोग किया होगा अतः जनमानस में इन कर्मों के प्रति भय अतः अनास्था की वृत्ति पुष्ट होती गई। चूँकि शाक्ततंत्र मूलतः यन्त्र-मन्त्र एव गुह्यसमाजों की साधना पद्धति है अतः षट्कर्म का उनके अनुरूप अर्थ हो जाना प्रकृत ही है।

३—योगिसम्प्रदायों में षट्कर्म

१३७—योग में तन्त्र-मन्त्र की अपेक्षा काय साधना पर अधिक बल दिया गया है। हठयोगी तो कायसाधना को केन्द्र कर के चलता ही है। वह मानता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब-का सब सूक्ष्म रूप से पिण्ड में वर्तमान है—चराचर जगत भी, शिव भी, शक्ति भी। उसका विश्वास है इसी शरीर की साधना से मूलाधारस्था कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करके सहस्रार में पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार शिवशक्ति का सामरस्य स्थापित कर परमानन्द, अमरदेह या जीवन्मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। अतः हठयोग

१—पराशर स्मृति। विशेष विवरण के लिये दे० ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म, ले० मोनियर विलियम्स, पृ० ३९४।

२—गुह्य समाजतंत्र, सं० विनयतोषभट्टाचार्य, पृ० ६६–६७, ८४–८५ एव ९१।

की साधना में सात क्रियाएँ आवश्यक मानी जाती हैं—शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तत्व।[1] ये सिद्धि की ओर अग्रसर होने के क्रमिक सोपान हैं। शोधन इनमें सबसे प्राथमिक क्रिया है। इसी शोधन के लिये षट्कर्म का अनिवार्य विधान विहित है।

योगशास्त्र के अनुसार वात, पित्त एवं कफ के विकारों से त्रस्त साधक को षट्कर्मों द्वारा शरीर शुद्धि करनी पड़ती है। जो इन विकारों से ग्रस्त नहीं हैं उनके लिये षट्कर्मों के आचरण की आवश्यकता नहीं रहती।[2] घेरण्ड संहिता, हठयोग प्रदीपिका, गोरक्ष पद्धति आदि में इन षट्कर्मों के भेद-प्रभेदों, आचरण-विधियों और उनसे प्राप्य फलों का काफी विस्तार से वर्णन किया गया मिलता है। इन षट्कर्मों में धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति की गणना की जाती है।[3] घेरण्ड संहिता में इन एक-एक के कई-कई भेद-प्रभेद बताए गए हैं।[4]

४—सन्त और खटकरम

१३८—ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि षट्कर्म के अर्थ में कई बार परिवर्तन आए हैं और हर स्थिति मे यह तत्तत् व्यवहार-विधियों एवं आचार-पद्धतियों में बहुत अधिक महत्व पाता रहा है। सन्तों के धर्म, दर्शन और साहित्य में उक्त षटकर्मों को रंचमात्र भी महत्व या स्थान नहीं दिया गया है बल्कि उल्टे इन्हें व्यर्थ की खटखट कहकर एकदम अस्वीकार कर दिया गया है।

सतों के मन में ब्राह्मणों के वेद, यज्ञ, दान आदि के प्रति कोई आस्था नहीं थी। ब्राह्मण के लिये मनु ने जिन आह्निक षट्कर्मों या जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक षट्कर्मों का विधान किया है, उनमे भी उन्हें रुचि नहीं थी, बल्कि साफ-साफ अरुचि थी। कबीर इन्हें नितान्त अर्थहीन बताते हुए कहते हैं[5]—

पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा। आपु अपन पौ जान न भेदा॥

१—घेरण्ड संहिता १, ९, पृ० ३।

२—गोरक्ष पद्धति २,१, पृ० ६०, तथा हठयोग प्रदीपिका २,२१।

३—घेरण्ड संहिता १,१२ पृ० ४,

धौतिर्वस्तिस्तथा नेति नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभाति श्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

४—विस्तृत विवरण के लिए दे० षट्कर्म पैरा ४८-५२।

५—कबीर ग्रन्थावली, तिवारी, रमैनी ७ पृ० १२०।

संझा तरपन अरु खटकरमा। लागि रहे इनके आसरमा ॥
गाइत्री जुग चारि पढ़ाई। पूछहु जाई मुकुति किन पाई ॥

सन्त रज्जब जी ने षट्कर्मों को स्पष्ट शब्दों में खोटा कहा है—'संतो ऐसा यहु आचार।

सगले जनम जीव सहारै यहु खोटे षट्कर्मा।
पाप प्रपंच चढ़े सिरि ऊपरि नाम कहावै धर्मा ॥[1]

संत दरिया साहब को तो पक्का विश्वास है कि षट्कर्मों के सहारे ईश्वर नहीं पाया जा सकता। वे कहते हैं[2]—

सब घट ब्रह्म और नहिं दूजा। आतमदेव क निर्मल पूजा ॥
बादिहि जनम गया सठ तोरा। अंत कि बात किया तैं भोरा ॥
पढ़ि-पढ़ि पोथी भा अभिमानी। जुगुति और सब सिखा बखानी ॥
जो न जानु छपलोक के मरमा। हंस न पहुँचिहि एहिं षट्करमा ॥

× × × ×

वेदै अरुझि रहा संसारा। फिरि-फिरि होहि गरभ अवतारा ॥

रैदास ने भी भक्तिहीन ब्राह्मणों के षट्कर्मों को अर्थहीन कहा है।[3] सुन्दरदास की राय इस सम्बन्ध में सबसे कठोर है। वे षट्कर्मों को ब्राह्मणों द्वारा प्रयोग किया जाने वाला ऐसा साधन मानते हैं जिनके सहारे वे राजा महाराजाओं को ठगकर अपनी जीविका चलाते हैं—

तौ पंडित आए वेद भुलाए षट्करमाए तपताए।
जी सध्या गाए, पढि उरझाए, रानाराए ठगिखाए ॥[4]

हमने पीछे देखा है कि रैदास ब्राह्मणों के षट्कर्मों को हीन समझते हैं। अपने एक पद में उन्होंने जप, तप, पूजा, पहिचान आदि को भ्रम कहते हुए

१—संत सुधासार, खण्ड १, पृ० ५१४।
२—वही, खण्ड, २, पृ० ९८।
३—रैदास जी की बानी, प्रयाग १९४८, पद ४८, पृ० २३,।

रे चित चेत अचेत काहे, बालक को देख रे।
जाति ते कोई पद नहिं पहुँचा, राम भगति बिसेख रे ॥
खटक्रम सहित जे बिप्रहोते हरि भगतिचित दृढ़ नाहिं रे।
हरि की कथा सुहाय नाहीं, सुपच तूलै ताहि रे ॥ १ ॥

४—संत सुधासार, खण्ड १, पृ० ५९१।

षट्कर्मों को भी भ्रम कहा है[1] और अन्यत्र बताया है कि उन्होंने इसका पूर्ण त्याग कर दया है।[2]

१३९—जहाँ तक शाक्तों के मारण, उच्चाटन वाले षटकर्म का सवाल है संतों में उसका कहीं कोई उल्लेख मुझे नहीं मिला। संतों ने शाक्तों के लिये जिस प्रकार की अपमानजनक कठोर शब्दावली का व्यवहार किया है उससे स्पष्ट है कि शाक्तों में संतों को कोई भी गुण कभी दिखा ही नहीं। वे शाक्तों को गदा, गर्हित और सूअर से भी गिरा हुआ मानते हैं[3] फिर मारण, उच्चाटन वाले उनके षट्कर्मों को वे स्वीकार ही कैसे सकते थे। खैर, मानने न मानने का सवाल तो अलग है, मुझे लगता है संतों को शाक्तों के षट्कर्मों की सम्भवतः जानकारी भी नहीं थी।

१४०—रहे हठयोगस्वीकृत षट्कर्म। हठयोग के प्रति संतों में पर्याप्त आस्था थी। हठयोग की साधना का सन्तों पर बहुत कुछ असर भी है। गोरखनाथ आदि के प्रति उनमें पर्याप्त आस्था और पूज्यबुद्धि स्पष्ट है अतः संतों में धौति, नेति, वस्ति आदि के प्रति कोई स्पष्ट विरोध मुझे कहीं नहीं मिला,[4] लेकिन इतना स्पष्ट है कि हठयोग में स्वीकृत षट्कर्मों को सन्तों ने कोई मान नहीं दिया है। संत सहजसमाधि के समर्थक थे। वे आँख मूँदने, कान रूँधने और किसी भी तरह का कायक्लेश सहने के पक्ष में नहीं थे। ऐसी स्थिति में हठयोग के षट्कर्म उनकी आस्था के पात्र नहीं हो सकते थे।

५—षट्कर्म : अर्थ-विकास

१४१—संत मन की शुद्धि के हामी थे। उनकी निगाह में मन का

१—रैदास जी की बानी, पद ६, पृ० ५।

२—वही, पद २, पृ० ३।

३—नमूने के लिये दे० कबीर ग्रन्थावली, पद १६८, पृ० १५७ साखी ३४, पृ० १५८, साखी ३७, ३९; पृ० २१२, साखी १०, १२, आदि-आदि।

४—'पंचग्रन्थी' में एक जगह हठयोग के नेती, धोती आदि षट्कर्मों को कालबली के सामने अक्षम कहा गया है—

नेती धोती के षट्कर्मा। संयम यतन अनेकन धर्मा॥
योगयुक्ति छिन मोंह नसाई। काल बली कछु नहीं बसाई॥

पृ० १९०।

चंगा होना ही महत्त्वपूर्ण था। बाकी सब कोई अर्थ नहीं रखता—न तीर्थ, न न व्रत, न रोजा, न नमाज, न जप, न तप। बस, मन चंगा होना चाहिये। वैसे यह कोई नई बात नहीं है। वैदिक आचार, तन्त्र और हठयोग सभी मन की निर्मलता के समर्थक हैं और षट्कर्म के जीवन निर्वाहक रूप को छोड़ दिया जाय तो शेष हर रूप में वह मन को चंगा करने का ही साधन है। वेद अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-याग,जप तप, उपवास-व्रत, शान्तिस्तम्भन और धौति-वस्ति सभी शरीर, और इस प्रकार मन, की शुद्धि के लक्ष्य से ही आचरित-स्वीकृत किए गए हैं। संत भी वही मन की शुद्धि चाहते हैं पर जैसा हम पीछे देख आए हैं संतों का व्यावहारिक जीवन उन्हें उक्त कर्मों को निभाने की सुविधा और अवकाश नहीं दे सकता था। उनके लक्ष्यीभूत श्रोता की भी यही स्थिति थी। धर्म-कर्म के टण्टे उनके लिये होते हैं जिनके पास सुविधा और अवकाश हो। सन्तों का सीधा-सा धर्म था ईश्वर में सच्ची निष्ठा, मानसिक विकारों का इच्छाशक्ति द्वारा निरोध, अहिंसा और शुद्ध सरल जीवन।

> 'जहँ जहँ जाउँ सोई परिकरमा जो जो करउ सो सेवा,
> जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा'

उनकी रहनी भी थी और धर्म भी। आँख-कान मूँद कर साधी गई उन्मनी उनके लिये ठीक नहीं थी। परमप्रिय के मनोनुकूल रहना ही उनकी उन्मनी थी, विषयों का त्याग ही उनका सहज था[1]। ये साधना-उपासना के भेद-प्रभेदों को निरी खटखट मानते थे। मन को शुद्ध नहीं रखते षट्कर्म साधते हैं, पापकर्म से विरत नहीं होते तीर्थ-व्रत करते हैं, दिन में रोजा रात में गोहत्या, षडदर्शन और षट्आश्रम, षट्रस और षट्कर्म-संत इन साधकों और साधनों के प्रति नितान्त अनास्था-शील हैं। अतः इन सबको उन्होंने एकदम अस्वीकार किया है।

१४२—स्वीकृति और अस्वीकृति का भी अपना अर्थ होता है और वह जाने-अजाने रूप से शब्दों के साथ धीरे-धीरे रहकर उनके अर्थ को बदल दिया करता है। बुद्धू, नगा, लुच्चा, चाई, भद्दा, भोंदा, मला, कुटीचर, नेता आदि के साथ बहुत दिनों तक लगातार जुड़ती रहने वाली अस्वीकृति ने इनके प्रकृत अर्थों को छिपाकर नए अर्थ पैदा कर दिये हैं। षट्कर्म के साथ भी ऐसा ही हुआ है और मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह संतों के हाथों ही हुआ है क्योंकि

१—दे० मेरा शोध-प्रबन्ध 'सन्त-साहित्य की दार्शनिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि'।

संत ही हैं जिन्होंने हर षट् को खटखट या बखेड़ा कहकर बलपूर्वक अस्वीकार किया है। हर 'षट्' के विरोध से सम्बद्ध कबीर की एक रमैनी है[1]।

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बंधे बधा सब लोई॥
बंध बध कीन्हें बहुतेरा। करम बिबरजित रहे न नेरा॥
खट आस्रम खट दरसन कीन्हा। खट रस बाटि करम संगि दीन्हा॥
चार बेद छ सास्त्र बखानै। विद्या अनंत कथै को जानै॥
तप तीरथ कीन्हें व्रत पूजा। धरम नेम दान पुनि दूजा॥
और अगम कीन्हें बेवहारा। नहिं गमि सूझै वार न पारा॥
माया मोह घन जोवना इनि बधे सबलोई।
झूठै झूठ बियापिया कबीर अलख न लखई कोई॥

कबीर के बीजक पर टीका स्वरूप लिखी गई पचग्रन्थी में हर 'षट्' को बाहरी दिखावा या भेष कहा गया है और इनसे उत्पन्न होने वाले अनेकशः ,,खटखटों' से मुक्ति पाना कठिन बताया गया है—

षट उर्मी षट रस पुनी, षट दर्शन षट कर्म।
षट शास्त्र षट ऋतु सो, षट् ब्रह्मा के धर्म॥
षट् दक्षिणायन सोई कला, उत्तरायण षट्मास।
षट् सब भेषहि जानिए, युगन्ह अग्र परकास॥
बहु खटखट सोइ खट के होई। परखै छूटै बिरला कोई॥[2]

× × ×

सब आश्रित ये षटन कें, बहु खटखट षटकेर।
खटखट षटके लखे ते, पुनि खटखट नहिं फेर॥[3]

× × ×

षट त्यागे अनुमानता सहज वृत्तिता होय॥[4]

× × ×

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२५, रमैनी १४।
२—पचग्रन्थी, पृ० १६७, साखी १७७-७९।
३—वही, पृ० ८७, दोहा १२३।
४—वही, दोहा १३०।

खटखट षट के जानहीं, सो न परहिं भव फंद ॥[1]

षट्कर्मों की अस्वीकृति के साथ 'षट्मात्र' की अस्वीकृति को मिलाकर देखने से स्पष्ट होता है कि सन्तों ने षट्कर्मों को व्यर्थ की खटखट, बखेड़ा, झंझट और टटा ही समझा है। हिन्दी भाषी प्रदेशों, तत्रापि सन्त प्रभावित प्रदेशों में 'खटकरम' शब्द का प्रयोग ठीक इन्हीं झझट, बखेड़ा, अनावश्यक विस्तार तथा टटे के अर्थ में होता है। जैसा हम कह आए हैं इस नए अर्थ के विकास का सारा श्रेय सन्तों को ही है।

१—वही, पृ० २१९, साखी ३९२ ।

टंटा

१४३—टटा हिन्दी भाषी प्रदेश का बहु प्रचलित शब्द है। टटा और टंट-घट शब्द का प्रयोग बखेड़ा, उलझाव, लम्बी-चौड़ी और निरर्थक प्रक्रिया, फसाद, झगड़ा, प्रदर्शन आदि के अर्थ में होता है।

जहाँ तक टंटा के शब्दरूप और अर्थ-परम्परा का सम्बन्ध है मूलतः यह संस्कृत तन्त्र से संबद्ध है। भारतीय धर्म-साधना के साहित्य में तंत्रों का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है लेकिन जैसा हमें अभी देखने का अवकाश मिलेगा कि ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते तन्त्रों के प्रति भारतीय जनमानस बहुत कुछ अश्रद्ध हो गया था। सतों का साहित्य इस अश्रद्धा को समझने की पर्याप्त सामग्री देता है। इस साहित्य का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि कि सतों ने तन्त्रों के सिद्धान्तों को यथासभव स्वीकारा है। बहुत दूर तक वे तन्त्रों के दर्शन से प्रभावित भी हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि सतों के साहित्य में तन्त्रों से ग्रहण किए गए शब्दों की सख्या अन्य किसी भी धार्मिक-दार्शनिक मतवाद की अपेक्षा सबसे अधिक है। संतों ने इन शब्दों को जिस तरह प्रयुक्त किया है उससे स्पष्ट है कि वे उनके तंत्रस्वीकृत अर्थों का स्वीकारने की मनोदशा में नहीं है। उदाहरण के लिये पचमकार, पचपवित्र, षट्कर्म आदि तन्त्रों के महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द लिए जा सकते हैं। आगे हम इनकी समीक्षा से पाएँगे कि संतों ने इन शब्दों और इनसे संकेतित आचार-पद्धतियों को कहीं भी महत्व नहीं दिया है। बल्कि भक्ति के लिये वे इन्हें बहुत कुछ बाधक ही मानते हैं—या कम-से-कम साधक नहीं मानते। आगे चलकर भक्ति का प्रसार ज्यों-ज्यों होता गया, 'भाव कुभाव अनख आलसहू, नाम जपत मंगल दिसि दसहू।' के प्रति आस्था ज्यों-ज्यों गहरी होती

गई तंत्रों की आचार-पद्धति का महत्व घटता गया और आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि तंत्र का अपभ्रष्ट रूप टटा फसाद, बखेड़ा, उलझाव और लम्बी-चौड़ी निरर्थक प्रक्रिया का वाचक बन गया है। ऐसा क्यों हुआ इसे समझने के लिये तन्त्र की आचार पद्धति को समझना आवश्यक है।

(२) तन्त्रों की आचार-पद्धति

१४४—करनी हर स्थिति में कर्ता सापेक्ष होती है और चूँकि तन्त्र करनी को अधिक महत्व देने वाले हैं अतः कर्ता के सम्बन्ध में उन्होंने पूरी चौकसी बरती है और करनी के समुचित आचरण के लिये साधकों के तीन भावों एवं सात आचारों का काफी विस्तार से विधान किया है। 'विश्वसारतंत्र' में कहा गया है कि जो इन भावों और आचारों को जानता है वह सब कुछ जानता है और जीवन्मुक्त हो जाता है।

तन्त्रों में तीन प्रकार के अधिकारी माने गये हैं—पशु, वीर और दिव्य। इन तीनों की अवस्थाओं का पारिभाषिक नाम 'भाव' है और अधिकारियों के अनुसार ही भावों को क्रमशः पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव की संज्ञा दी जाती है। तंत्रों में इन भावों को बहुत महत्वपूर्ण बताया गया है। 'कौलावली निर्णय' में यहाँ तक कहा गया है कि 'भाव' के बिना यन्त्र-तंत्र निष्फल हैं। लक्ष-लक्ष वीरसाधनाओं का भाव के बिना क्या लाभ? पीठ-पूजन का क्या मूल्य? कन्या भोजनादि से क्या होने वाला है? जितेन्द्रियभाव और कुलाचार कर्म का महत्व ही क्या है अगर कुलपरायण व्यक्ति भावविशुद्ध नहीं है? भाव से ही मुक्ति मिलती है, भाव से ही कुल की वृद्धि होती है। भाव से ही गोत्र की वृद्धि एवं शरीर की शुद्धि भी होती है। अगर भाव ही नहीं उत्पन्न हुआ तो न्यास-विस्तार और भूत शुद्धि-विस्तार का, या व्यर्थ के पूजा-पाठ का क्या मूल्य है? भाव के अभाव में कुल का अभाव निश्चित है।[1] भाव को दिया गया महत्व वहाँ और अधिक स्पष्ट हो जाता है जहाँ इन तीन भावों के आधार पर तीन गुरुओं, मंत्रों के तीन प्रकारों और देवता के तीन वर्गों तक का विभाजन किया गया है।[2] इन भावों में दिव्यभाव सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। शेष दो क्रमशः इसके बाद पड़ते हैं। तंत्रों में साधक को अपने भाव के अनुसार ही साधना करने

१—कौलावलीनिर्णय, ७, ५–९।

२—वही, ७, १–२ "भावश्च त्रिविधः प्रोक्तो दिव्यवीर पशुक्रमात्।
गुरुश्च त्रिविधश्चैव तथैव मन्त्र देवता: ॥"

का कड़ा निर्देश किया गया है, और बताया गया है कि अगर वह हठवश ऐसा न करके किसी अन्यभाव की साधना करता है तो कुछ प्राप्त करने की जगह अपनी हानि ही करता है।

१४५—वेदान्ती जिसे जीव कहते हैं तन्त्र उसी को पशु कहते हैं। अद्वैत वेदान्तियों ने जिस तरह ब्रह्म, जीव और माया की कल्पना की है अद्वैत शैवों ने उसी तरह पशुपति, पशु और पाश की। दोनों का अर्थ मूलतः एक ही है, भेद केवल शब्दावली का है। पाश का अर्थ है जाल बन्धन : पशु का अर्थ है पाशबद्ध, जाल में पड़ा हुआ, मलयुक्त या कचुकित, तथा पशुपति का अर्थ है जाल से मुक्त, निर्मल, निष्कचुकित। 'परशुराम कल्पसूत्र' में कहा गया है कि "शरीर-कचुकितः शिवो जीवो, निष्कचुक : परम शिवो।" इस प्रकार पशु का अर्थ है माया के कचुकों[1] और मलों[2] से आच्छादित शिव या ब्रह्म—अर्थात् ऐसा बद्धजीव जिसका चैतन्य अनेक मायिक आवरणों—दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल तथा शिला (रीति) और वर्ण (जाति) से आच्छन्न हो गया है। कौलोपनिषद् में कहा गया है 'न कुर्यात्पशु सम्भाषगम्।' इस पर भास्करराय की टीका है—"बहिर्मुखाः पशवो विद्याविहीनत्वात्, एतदुपास्यतेरेव विद्यात्वात्। न शिल्पादिज्ञानयुक्ते विद्वच्छब्दः प्रयुज्यते इत्यादि वचनात्" आदि।[3]

तन्त्रों में पशुभावस्थ साधक को सबसे हीन कोटि का माना जाता है। कौलावली निर्णय में इसे विश्वनिन्दित कहा गया है[4] और साधना मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये इस कोटि के अधिकारी को बहुजाप, बहु होम तथा अत्यधिक कायक्लेश की आवश्यकता बताई गयी है। ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि साधक को अपने अधिकार, अर्थात् शक्ति की सीमा को समझ कर ही साधना करनी चाहिये।

महासिद्ध सर्वानन्द ने अपने सर्वोल्लास नामक ग्रन्थ में तीन प्रकार के पशुसाधकों का उल्लेख किया है-पशु, सभावपशु और विभाव पशु। इनमें पशु उसे कहा गया है जो आहार, निद्रा, भय, मैथुन वाले पाशविक जीवन से ऊपर कोई उच्चतरभाव है इससे नितान्त अनभिज्ञ होता है अतः वह अपने अंदर के चित्तत्व से

१—कचुकों के विस्तृत विवरण के लिये दे० 'कचुक' पर मेरी टिप्पणी, हि० सा० कोश, भाग १, स० २, पृ० १९९।

२—मलों के विस्तृत विवरण के लिये दे० 'मल' पर मेरी टिप्पणी वही, पृ० ६२१।

३—तान्त्रिक टेक्सट्स वाल्यूम १, पृ० ५।

४—कौलावली निर्णय, ७, ३।

बिल्कुल बेखबर रहता है। सभावपशु में अपने चित्स्वरूप के प्रति थोड़ी चेतना या सतर्कता तो उद्बुद्ध हो गयी रहती है। लेकिन इसे किसी ऊँचे धरातल की चेतना नहीं कह सकते। विभावपशु में यह चेतना स्थिररूप ले लेती है और साधक में उच्चतर जीवन की ओर अग्रसर होने की प्रबल कामना जाग्रत हो जाती है। उच्चतर जीवन की ओर बढने के उसके प्रयास जब सफल होने लगते हैं तब वह पशुत्व की सीमा पार कर वीर बन जाता है।

पशु, सभावपशु तथा विभावपशु से थोड़ा भिन्न एक दूसरा वर्गीकरण भी पशु का पाया जाता है जिसे क्रमशः सकलपशु, प्रलयकलपशु, और विज्ञानकल पशु की संज्ञाएँ दी गयी हैं। सकलपशु उस साधक को कहते हैं जो अणु, भेद और कर्म नामक तीन मलों से बँधा रहता है। प्रलयकलपशु अणु और कर्म नामक दो मलों से वेष्ठित रहता है, भेद या माया छूट गयी रहती है। विज्ञानकलपशु मात्र अणु- नामक मल से बद्ध होता है।

१४६—वीर मध्यकोटि का अधिकारी है। आत्मा और परमात्मा या जीव और ब्रह्म के अद्वैत का हल्का-सा आभास पाकर साधनामार्ग में उत्साहित हो जाने वाले तथा आयासपूर्वक मोह या माया के पाश को काट डालने वाले साधक को तन्त्र वीर की संज्ञा देते हैं। पशु की ही तरह सर्वानन्द ने वीर की भी तीन कोटियाँ बताई हैं—वीर, सभाव वीर और विभाववीर। इन अवस्थाओं को पार करता हुआ साधक क्रमशः अद्वैत-ज्ञान की ओर अग्रसर होता हुआ शिव के साथ अपनी एकात्मकता को शीघ्र ही पहचान जाता है। वीरभाव के साधक में सत्वगुण की अपेक्षा रजोगुण अधिक प्रबल होता है। पिच्छिलातंत्र (अध्याय १०), उत्पत्तितन्त्र (अध्याय ५६), एवं प्राणतोषिणी (पृ० ५७०) में बताया गया है कि वीर और दिव्य में केवल इतना अन्तर होता है कि वीर रजोगुण की प्रधानता के कारण अपेक्षाकृत अधिक उद्धत होता है।

'दिव्य' तन्त्रों का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है और दिव्यभाव सर्वोत्कृष्ट भाव। दिव्यभाव की कसौटी है द्वैत को अपसारित कर उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता को समरस कर लेना और इस प्रकार अद्वैतानन्द का आस्वादन करना। तन्त्रों में इस साधक के लक्षण पर्याप्त विस्तार से बताए गए मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुब्जिका तन्त्र के सातवें अध्याय में इनका काफी विस्तार से वर्णन किया गया है।

१४७—साधकों की तरह ही साधना या आचार को भी तन्त्रों ने बहुत अधिक महत्व दिया है। हम पीछे विश्वसार तन्त्र के वचन का हवाला दे आए

हैं जिसके अनुसार 'जो (उक्त) तीन भावों और (प्रस्तुत) सात आचारों को जानता है वह सब कुछ जानता है और जीवन्मुक्त हो जाता है।

'कुलार्णव' एव 'ज्ञानदीप' जैसे तन्त्रों के अनुसार आचार सात हैं—वेदिकाचार वैष्णावाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इन सात से भी उच्चतर अतः उच्चतम एक आचार और बताया गया है—स्वेच्छाचार[1]। इन सात आचारों को भी दो कोटियों में बाँटा गया है। इनमें से प्रथम चार को पश्वाचार कहा गया है और शेष तीन को वामाचार।

तन्त्रों में वैदिकाचार या वेदाचार को सबसे नीचा और कौलाचार को सबसे ऊँचा बताया गया है।[2] सक्षेप में इतना समझ लिया जा सकता है कि वेदाचार में वेदविहित कर्मों–यज्ञ-याग का आचरण, ऋतुकाल के अतिरिक्त पत्नी के साथ सहगमन न करना, पर्व के समय मत्स्य-मास न खाना और रात्रि में देवता की उपासना का विधान आवश्यक है। वैष्णवाचार में निरामिष भोजन, व्रत-उपवास, स्त्री-संभोग का पूर्णत्याग एवं विष्णु की पूजा विहित है। शैवाचार में जीवहिंसा का पूर्णत्याग एव शिव की उपासना विहित है। दक्षिणाचार में भाँग खाकर परमेश्वर का ध्यान करने का विधान है। रात्रि में मंत्रजप, महाशख या नरास्थि की माला और कभी-कभी शक्तिपीठ इसके लिये आवश्यक हैं। इन चारों को पशु-भाव के साधक के लिये विहित माना गया है, अतः ये पश्वाचार कहलाते हैं।

उक्त सात आचारों में पाँचवा वामाचार है। इसमें दिन में ब्रह्मचारी की तरह रहकर रात में पचमकारों से पूजा का विधान है। चूँकि इसको गुप्त न रखने से मिली हुई सिद्धि भी समाप्त हो जाती है अतः इसे गोप्य माना जाता है। इसके बाद सिद्धान्ताचार है। वेदों, शास्त्रों एव पुराणों में जो बुद्धि (ज्ञानराशि या बोधि) काष्ठ में अग्नि की तरह छिपी हुई होती है, सिद्धान्तचारी उसे जान लेता है, पशुसुलभ भय की भावना से मुक्त होता है, सत्य के प्रति निष्ठावान् रहकर

१—तंत्रों में इन आचारों की सख्याएँ कभी चार तो कभी छः, सात, आठ और नौ भी बताई गयी हैं। सच्चिदानन्द स्वामी ने 'तंत्ररहस्य' में उक्त सात आचारों के साथ अघोराचार एवं योगाचार नाम के दो और आचारों का उल्लेख किया है। इस तरह का सख्याभेद एक ही आचार में कई को समेट लेने या एक ही आचार के कई भेद-प्रभेद कल्पित कर लेने के कारण ही सभव हुआ है यह स्पष्ट है।

२—कुलार्णवतंत्र, २, तथा विश्वसार तंत्र के चौदहवें पटल में इस बात को पूरे विस्तार से बताया गया है।

पंचतत्व का सेवन कर सकता है। 'नित्यतंत्र' में बताया गया है कि नर कपाल का पात्र एव रुद्राक्ष की माला धारण करने वाला सिद्धान्ताचारी साक्षात् भैरव की तरह धरती पर घूमता फिरता है।

आचारों में अन्तिम कौलाचार है। तन्त्र मानते हैं कि इसका ध्यान और आचरण साधक को स्वयं शिव बना देता है। जैसे हाथी के पैर में सभी जानवरों के पैर समा जाते हैं उसी तरह उसमें सभी आचार आ जाते हैं। यहाँ पहुँच कर सारे बन्धन, सारे विधि-निषेध समाप्त हो जाते हैं। कौल स्वय अपना गुरु और स्वयं सदाशिव होता है। उससे बड़ा कोई होता ही नहीं। कौल भी तीन प्रकार के होते हैं—प्राकृत कौल, कौल और उत्तम कौल। यही प्रमुख सात आचार हैं। यहाँ तक पहुँचकर साधक को पूर्ण ज्ञान हो जाता है। तन्त्रों का मत है कि इसके बाद साधक आचारों से ऊपर उठ जाता है और उसकी अपनी इच्छा ही सबसे बड़ा आचार बन जाती है। तन्त्र इसी को 'स्वेच्छाचार' कहते हैं। ऐसा साधक जो कुछ भी करे-धरे सभी पवित्र है। खान, पान, एवं मैथुन—किसी के लिये कोई विधि-विधान नहीं।[1]

१४८—जैसा हम कह आए हैं उक्त आचारों को प्रमुख दो वर्गों में बाँटा जाता है—दक्षिणाचार एव वामाचार। दक्षिणाचार के अन्तर्गत वैदिक, वैष्णव, शैव तथा दक्षिणाचार को रखा जाता है और वामाचार के अन्तर्गत वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार को। वैदिक, वैष्णव एव शैवाचारों को दक्षिणाचार के अन्तर्गत रखने का अर्थ यही है कि ये दक्षिणाचार की उपलब्धि में सोपानों का काम देते हैं। ये चारों प्रवृत्ति मार्गी आचार हैं। शेष, उत्तरवर्ती तीन आचारों को वामाचार कहा जाता है।

वामाचार नाम थोड़ा भ्रामक है। चूँकि इस आचार में लता-साधना[2], जैसी, स्त्री के साथ चलने वाली साधनाएँ गृहीत हैं अतः इसे वामा (स्त्री) आचार कहते हैं। कुछ लोग वाम का अर्थ उलटा या विपरीत करके इसे उलटाचार के अर्थ में स्वीकार करते हैं। तन्त्रों में वामाचार को निवृत्तिमार्गी बताया गया है जब कि

१—पीछे पादटिप्पणी में सच्चिदानद स्वामी के 'तंत्र रहस्य' का हवाला देकर हमने अघोराचार एव योगाचार नामक जिन दो आचारों का उल्लेख किया है उन्हें वामाचार के बाद और सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार के पहले की अवस्था माना गया है।

२—दे० "लतासाधना" पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, स० २, पृ० ७४१।

दक्षिणाचार प्रवृत्तिमार्गी है अतः इससे उलटा भी पड़ता है। कुछ लोग मानते हैं कि चूँकि इस आचार की आराध्या देवी शिव के वामाङ्क में विराजित हैं अतः यह वामाचार कहा जाता है।

कुछ विदेशी विद्वानों ने, वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार जैसे सम्प्रदाय सापेक्ष नामों के आधार पर इन आचारों को विभिन्न सम्प्रदायों का सूचक मान लिया है, जो ठीक नहीं। उक्त सभी आचार कौलाचार के विभिन्न स्तर या सोपान हैं और हर साधक विभिन्न स्थितियों में इन सभी से होकर निकलता है।

१४९—विवरण थोड़ा लम्बा हो गया और वह भी कम करते-करते। तंत्रों में भाव और आचार पर जो कुछ कहा गया है उस पर पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, लिखी भी गई हैं। यहाँ कर्ता जिन साधनाओं का विधान करता है उनका विवरण अपार होने को विवश है। तन्त्र करनी प्रधान हैं। पुस्तकी विद्या और तात्विक चर्चा इनके निकट अर्थहीन है 'पुस्तके लिखिता विद्या येन सुन्दरि जप्यते, सिद्धिर्नजायते तस्य कल्पकोटि शतैरपि।' यह षट्कर्म दीपिका का वचन है। अतः आवश्यक है गुरु। इस गुरु के भी अनेक प्रकार हैं। यह गुरु जो दीक्षा देता है उसके अनेक रूप और विस्तृत विधि-विधान हैं। फिर साधना शुरू होती है। साधना के उपकरण हैं पूजा, प्रतिमा, उपचार, सन्ध्या, यज्ञ, व्रत, तप, मण्डल, यन्त्र, मन्त्र, जप, पुरश्चरण, न्यास, भूतशुद्धि, मुद्रा, ध्यान, संस्कार आदि आदि। ये भी अकेले नहीं हैं। इनके अपने कई-कई प्रकार हैं। पूजा दो हैं आन्तर और बाह्य या मानस। उपचार सोलह हैं—आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, प्रत्याचमन, मधुपर्क, स्नान, वसन, आभरण, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और वन्दन या नमस्क्रिया। इनके भी अपने भेद-प्रभेद और तैयार करने, प्राप्त करने आचरण तथा उपस्थान के काफी विस्तृत विधान हैं। साधक के साथ-साथ साधनायें बदलती हैं, जप, तप, मन्त्र यहाँ तक की उपचार भी बदलते हैं। उदाहरण के लिए साधनायें चारभाव की हैं—ब्रह्मभाव, ध्यानभाव, जप और स्तव का आश्रय लेने वाला भाव, और बाह्यपूजा। इसी प्रकार वामाचारी की राजसिक पूजा के सोलह उपचार न होकर पंचमकार ही उसके उपचार होते हैं। इसके बाद मुद्रायें हैं जिनके अनेक अर्थ और अनेक प्रकार हैं। इसके बाद न्यास हैं—आन्तर, बहिः, सृष्टि और संहार। और भी इनके अनन्त प्रकार हैं जैसे जीवन्यास, मातृका या लिपि न्यास, ऋषिन्यास, छः अंगों के छः षडगन्यास, पीठन्यास आदि-आदि। फिर मन्त्र हैं। इनका अपार विस्तार है। मन्त्र के सही उच्चारण के लिए अनेक प्रक्रियायें हैं। सही उच्चारण के लिए भी मंत्र हैं। फिर मन्त्रों के जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कार हैं। मन्त्र देते समय के चक्र हैं। तीन तरह के जप

हैं—वाचिक, उपांशु और मानस पुरश्चरण भी किसी से कम चक्करदार नहीं हैं। भूतशुद्धि, षट्कर्म, पंचमकार, पचपवित्र क्या करें क्या—क्या छोड़े का अपार चक्कर है। ये जमाने से अकथ्य रहे हैं अतः तन्त्र से घिसकर बने या बनाए गए 'टटा' का अर्थ ही हो गया है 'बखेड़ा, उलझाव, लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया, फसाद, झगड़ा'। हिन्दी-भाषी विशाल जन समूह जमाने से तन्त्र के सम्पूर्ण विस्तार और उसके प्रति अपनी धारणा को इस एक शब्द 'टटा' के द्वारा अभिव्यक्त करता आया है। इस चक्कर से मुक्ति पाने के लिए हम भी 'टंटा' का सहारा लेने को विवश हैं अतः एक वाक्य में कहें कि तन्त्र पूरे टंटा[1] हैं।

१५०—संत रोटी-पानी की समस्या को जरा भी महत्व न देकर भी रोटी-पानी की समस्या में चौबीस घण्टे व्यस्त रहने वाले जीव थे। उनके पास न इस टटे को समझने की सुविधा थी, न करने का अवकाश। अतः परम्परा से उन्हों-ने इन्हें व्यर्थ मानने का जो संस्कार पाया था उसी के अनुसार उन्हें सदैव व्यर्थ कहते—समझते रहे। तन्त्र के शब्दों के संतप्रयुक्त अर्थों की समीक्षा हमें यह सब देखने-समझने के पर्याप्त मौके देती है। अतः यहाँ बस इतना ही कह लेना पर्याप्त है कि संतों के जमाने तक आते-आते तन्त्रों के साथ ही उनके टंटों के विरोध भी पर्याप्त क्षीण हो गए थे अतः सन्तों ने जिस उग्रता से हिन्दुओं मुसलमानों के तत्काल प्रचलित अन्धविश्वासों, पूजा-अर्चा और व्रत-उपवासों का खण्डन किया है उस तीव्रता से वे तंत्रों का खंडन कभी नहीं करते क्योंकि तंत्र उनकी जिजीविषा के मार्ग में कोई बाधा नहीं थे।

संतों ने तन्त्रों के सिद्धान्तों को यथासंभव स्वीकृत दी है। वे उनके दर्शन से प्रभावित हैं। पर उनके धर्म उन्हें न अनुकूल बैठते हैं न सार्थक लगते हैं अतः उन्होंने उन्हें टटा मानकर अस्वीकार किया है। इन्द्रियनिग्रह संतों का परम काम्य है। तंत्रों की साधनाओं के भोग प्रवण अंश उन्हें फूटी आँख नहीं सुहाते। शाक्तों के प्रति उनके मनोभाव और पचमकारों की जगह रामअमलि की कल्पना इस बात के अच्छे प्रमाण हैं। संतों पर 'तन्त्रमत का बड़ा व्यापक प्रभाव'[2] देखने वाले विद्वानों से मात्र इसी सीमा तक सहमत हुआ जा सकता है कि संत तन्त्रों के दर्शन के निकट हैं। बस। उनके शब्दों की समीक्षा यही मानने का संकेत करती है।

१—तंत्र-साधना के संक्षिप्त विवरण के लिए दे०, शक्ति एण्ड शाक्त संस्करण ४, पृ० ५२४–५९०।

२—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, एम० ए०, पी-एच०डी०, डी० लिट्०, हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, १९६१, पृ० २३५, विस्तार के लिए दे०, पृ० १९४-२६५।

तिनका

१५१—तिनका तृण का वाचक है। तिनका अत्यधिक हल्का भी होता है। सन्तों ने तिनका शब्द का व्यवहार तृण (और स्थूल के विपरीत पड़ने वाले) सूक्ष्म के अर्थ में किया है, लेकिन हिन्दी में उनका (जैसे, उनका घर) के लिये तिनका (उन = तिन + का) शब्द भी बन सकता है, कहीं-कहीं बोलियों में प्रयुक्त भी होता है, अतः सन्तों ने तृण और सूक्ष्म के साथ अर्थ भी भरा है—उनका कबीर की एक साखी है—'आई आंधी प्रेम की तिनका उड़ा अकास, तिनका तिनका है रहा तिनका तिनके पास, 'अर्थात्' प्रेम की आँधी आई और तृण की तरह माया मोहादि से असपृक्त साधक आकाश (परमव्योम, ब्रह्म) में उड़ चला। उसमें जो उनका (ब्रह्मका) अंश था, वह तो उनके पास रह गया (आत्मा परमात्मा में लीन हो गया), लेकिन जो शुष्क निर्जीव शरीर था, वह अपनी तरह के अन्य शुष्क तृणों के पास लौट आया। नगण्य के अर्थ में कबीर ने 'तिनका' शब्द का प्रयोग किया है—'कबीर सीप समद्की, रटै पियास पियास। समदहिं तिनका भरि गिनै, एक स्वाति बूँद की आस'। (क० ग्रं० ति०, पृ० १७६,९)। 'उनका' अर्थ में तिनका का प्रयोग भी कबीर ने किया है। उदाहरणार्थ—

'कबीर कलियुग आइया मुनियर मिलै न कोइ।
कामी क्रोधी मसखरा तिनका आदर होइ॥'
(वही, पृ० २१४ : २६)।

तृण एव उनका दोनों अर्थों का संकेत देने वाली कबीर की एक साखी है—

'गुर दाधा चेला जला बिरहा लागी आगि।
तिनका बपुरा ऊबरा गलि पूरे के लागि'॥
(क० ग्रं० : ति०, पृ० १४८, ५०)।

तिनका के प्रस्तुत अर्थ प्रभाव एव ध्वनिसाम्य से सम्भव हुए हैं।

परिशिष्ट

उन्मनी सम्बन्धी मूल वचन

[क]

योग-साहित्य

[ख]

नाथ-साहित्य

[ग]

संत-साहित्य

उन्मनी सम्बन्धी मूल वचन

[क] योग-साहित्य

*नारद परिव्राजकोपनिषद्[1]

[यहाँ प्रणव की सोलह कलाओं का उल्लेख करते हुए उन्मनी को ग्यारहवीं कला तथा मनोन्मनी को बारहवीं कला बताया गया है।]

'अथ हैनं भगवन्त परमेष्ठिन नारदः पप्रच्छ संसार तारकं प्रसन्नो ब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टि प्रकारेण। का व्यष्टिःका समष्टिः संहारप्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधो ब्रह्मप्रणवः। अन्तः प्रणवो व्यावहारिक प्रणवः। बाह्य प्रणवः आर्षप्रणव। उभयात्मको विराट्प्रणवः। संहार प्रणवो ब्रह्मप्रणव अर्धमात्रा प्रणवः। ओमिति ब्रह्म। ओमित्येकाक्षरमन्तः प्रणवं विद्धि। स चाष्टधा भिद्यते। अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुकलाशक्तिश्चेति। तत्र चत्वार अकारश्चायुतावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः। सगुणो विराट् प्रणवः संहारो निर्गुण प्रणव उभयात्मकोत्पत्ति-प्रणवो यथाप्लुतो विराट्प्लुतः प्लुतसंहारो विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः। षोडशमात्रात्मकत्व-कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्त्रितीयार्धमात्रा चतुर्थी नाद पञ्चमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पञ्चदशी परा षोडशी। पुनश्चतुः षष्टिमात्रा प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरभेदमात्रास्वरूपमासाद्य सगुण-निर्गुणत्वमुपेत्यैकोऽपि ब्रह्मप्रणवः सर्वाधार. परञ्ज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः सर्व देवमयः सर्वः सर्वप्रपचाधारगर्भितः ॥ ८, १ ॥

१—ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, प्रथम संस्करण, सन् १९३८, पृ० २५७-५८ से उद्धृत।

※ निर्वाणोपनिषत्[1]

[यहाँ परमहंस के लक्षण बताते हुए उसकी अवस्था और गति को उन्मनी कहा गया है ।]

'परमहंसः सोऽहम् । × × × अजपा गायत्री ! विकारदण्डो ध्येयः । मनोनिरोधिनी कंथा । योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् । आनन्दभिक्षाशी । महाश्मशानेऽप्यानंद वने वासः । एकान्तस्थानम् । आनन्द मठम् । उन्मन्यावस्था । शारदा चेष्टा । उन्मनी गतिः । निर्मल गात्रम् । निरालम्ब पीठम् । अमृतकल्लोलानन्दक्रिया ।' × × ×

※शाण्डिल्योपनिषत्[2]

[इस उपनिषद् में अष्टांगयोग (यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टांगानि) का वर्णन करने के क्रम में कुण्डलिनी तथा कुण्डलिनी का आश्रय करके स्थित १४ प्रमुख नाड़ियों, उनसे उत्पन्न होने वाली अन्य अनेकशः नाड़ियों, दस वायु, प्राणापानसमायोग से उत्पन्न होने वाले प्राणायाम तथा नाड़ीशोधन करने वाली वैष्णवी, खेचरी आदि का पूरा विवरण दिया गया है और खेचरी से ही उन्मनी अवस्था की प्राप्ति बताई गयी है ।]

"अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्त पवनो योगी सदा वर्तते ।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्पश्यन्नपि ॥
मुद्रेय खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा ।
शून्याशून्य विवर्जित स्फुरति सा तत्त्वं पद वैष्णवी ॥ १५ ॥
अर्धोन्मीलित लोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणम् ।
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावोत्तरम् ॥
ज्योतिरूमयशेषबाह्य रहित देदीप्यमानं परम् ।
तत्त्व तत्परमस्ति वस्तु विषय शाण्डिल्य विद्धीह तत् ॥ १६ ॥
तारं ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन्भ्रुवौ ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनी कारकः क्षणात् ॥ १७ ॥

तस्मात्खेचरीमुद्रामभ्यसेत् । तत् उन्मनी भवति । ततो योगनिद्रा भवति । लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालोनास्ति । शक्ति मध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानस मध्यगाम् । मनसामन आलोक्य शाण्डिल्य त्व सुखीभव ॥ १८ ॥"

१—वही, पृ० २७४ से उद्धृत
२—वही, पृ० ३२८ से उद्धृत

*मण्डलब्राह्मणोपनिषत्[1]

[इस उपनिषद् का दूसरा ब्राह्मण अन्तर्लक्ष्यों की व्याख्या से शुरू होता है। इसी क्रम में शाम्भवी और खेचरी मुद्रा की बात की गई है और बताया गया है कि उन्मनी इसी खेचरी से सम्पन्न होती है।]

"एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शान्तो भवी भवति। तामेव खेचरीमाहुः। तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम्। ततो वायुस्थैर्यम् तच्चिह्नानि। आदौ तारकवद्दृश्यते। ततो वज्र दर्पणं। तत उपरि सूर्यचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्नप्रभामण्डलम्। ततो मध्यान्हार्कमण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलम् क्रमाद्दृश्यते ॥ १ ॥ तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनाद कलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसवर्णनवरत्नादिप्रभादृश्यन्ते। तदेव प्रणवस्वरूपम्। प्राणापानयोरैक्य कृत्वा धृत कुम्भको नासाग्रदर्शनदृढ—भावनया द्विकरांगुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्रली न भवति। तस्य न कर्मलेपः। खेरुदयास्तमययो किल कर्म कर्तव्यम्। एवंविधश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः। शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्य भवति। उन्मन्या अमनस्क भवति। तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चयज्ञानमानसम्। उन्मनीभावः पाद्यम्। सदाऽमनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिरपारामृतवृत्तिः स्नानम्। सर्वत्र भावना गधः। दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः। चिदाप्तिः पुष्पम् चिदग्नि स्वरूप धूपः। चिदादित्यस्वरूपं दीपः। + + + ॥ २ ॥

---

*नादबिन्दूपनिषत्[2]

"सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रा सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गत सदा ॥ ३१ ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽय बाह्यमावृणुते ध्वनिः।
पक्षाद्विपक्ष मखिल जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥ ३२ ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नाना विधो महान्।
वर्धमाने यथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मतः ॥ ३३ ॥

१—वही, पृ० २७६-७७ से उद्धृत

२—वही, पृ० २२५-२६ से उद्धृत

आदौ जलधि जीमूत भेरी सम्भवः ।
मध्ये मर्दल शब्दाभो घण्टाकालहजस्तथा ॥ ३४ ॥
अंते तु किंकिणी वंशवीणाभ्रमर निःस्वनः ।
इति नाना विधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३५ ॥
महति श्रयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्म सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ३६ ॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्त मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ३७ ॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथम मनः ।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८ ॥
विस्मृत्य सकल बाह्य नादे मुग्धाम्बुवन्मनः ।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥ ३९ ॥
उदासीनस्ततोभूत्वा सदाभ्यासेन सयमी ।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥ ४० ॥
सर्वं चिन्ता समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः ।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्त विलीयते ॥ ४१ ॥
मकरन्दं पिबन्भृगो गन्धान्नापेक्षते यथा ।
नादासक्त सदा चित्त विषय न हि कांक्षति ॥ ४२ ॥
बद्धः सुनाद गन्धेन सद्यः सन्त्यक्त चापलः ।
नादग्रहणतश्चित्तमतरंग भुजगमः ॥ ४३ ॥
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ।
मनोमत्त गजेन्द्रस्य विषयोद्यान चारिणः ॥ ४४ ॥
नियामनसमर्थोऽय निनादो निशिताकुशः ।
नादोऽन्तरग सारग बन्धने वागुरायते ॥ ४५ ॥
अन्तरग समुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपिवा ।
ब्रह्मप्रणवसलग्न नादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥ ४६ ॥
मनसस्तत्र लय याति तद्विष्णो परमं पदम् ।
तावदाकाश सकल्पो यावच्छब्द. प्रवर्तते ॥ ४७ ॥
निश्शब्द तत्परब्रह्म परमात्मा समीयते ।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तेऽपि मनोन्मनी ॥ ४८ ॥

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्द परमं पदम् ।
सदानादानुसन्धानात्सक्षीणा वासना तु या ॥ ४९ ॥

निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः ।
नाद कोटि सहस्राणि बिन्दुकोटि शतानि च ॥ ५० ॥

सर्वे तत्र लय यान्ति ब्रह्म प्रणव नादके ।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सर्वचिन्ता विवर्जितः ॥ ५१ ॥

मृतस्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र सशयः ।
शखदुदुभिनाद च न शृणोति कदाचन ॥ ५२ ॥

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थयाध्रुवम् ।
न जानति स शीतोष्ण न दुख न सुख तथा ॥ ५३ ॥

न मानं नावमान च सन्त्यक्त्वा तु समाधिना ।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्त योगिनः सदा ॥ ५४ ॥

जाग्रन्निद्रा विनिर्मुक्त' स्वरूपावस्थतामियात् ॥ ५५ ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य बिना सदृश्य वायुःस्थिरो यस्य बिना प्रयत्नम् ।
चित्त स्थिर यस्य विनावलम्ब स ब्रह्मतारान्तरनाद रूप ॥५६॥"

※ परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्[1]

[यहाँ ब्रह्म प्रणव और उसकी सोलह मात्राओं का विवरण देते हुए उन्मनी और मनोन्मनी का उल्लेख किया गया है ।]

'भगवान् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति । स हो वाच नारायणः । ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयचतुष्टय गोचरः । जाग्रदवस्थाया जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादि चतस्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति । जाग्रदवस्थाया विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति । स्वप्नावस्थायातैजसस्य चातुर्विध्य तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति । सुषुप्त्यवस्थाया प्राज्ञस्य चातुर्विध्य प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञ प्राज्ञतुरीय इति । तुरीया-

---

१—वही, पृ० ३८२ से उद्धृत ।

आदौ जलधि जीमूत भेरी सम्भवः ।
मध्ये मर्दल शब्दाभो घण्टाकालहजस्तथा ॥ ३४ ॥
अंते तु किंकिणी वशवीणाभ्रमर निःस्वनः ।
इति नाना विधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३५ ॥
महति श्रयमाणे तु महोभेर्यादिकध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्म सूक्ष्मतर नादमेव परामृशेत् ॥ ३६ ॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्त मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ३७ ॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथम मनः ।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८ ॥
विस्मृत्य सकलं बाह्य नादे मुग्धाम्बुवन्मनः ।
एकीभूयाय सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥ ३९ ॥
उदासीनस्ततोभूत्वा सदाभ्यासेन सयमी ।
उन्मनीकारक सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥ ४० ॥
सर्वं चिन्ता समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः ।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्त विलीयते ॥ ४१ ॥
मकरन्दं पिबन्भृगो गन्धान्नापेक्षते यथा ।
नादासक्त सदा चित्त विषय न हि कांक्षति ॥ ४२ ॥
बद्धः सुनाद गन्धेन सद्यः सन्त्यक्त चापलः ।
नादग्रहणतश्चित्तमतरग भुजगम. ॥ ४३ ॥
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ।
मनोमत्त गजेन्द्रस्य विषयोद्यान चारिणः ॥ ४४ ॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताकुशः ।
नादोऽन्तरग सारग बन्धने वागुरायते ॥ ४५ ॥
अन्तरग समुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपिवा ।
ब्रह्मप्रणवसलग्न नादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥ ४६ ॥
मनसस्तत्र लय याति तद्विष्णो परम पदम् ।
तावदाकाश सकल्पो यावच्छब्द. प्रवर्तते ॥ ४७ ॥
निश्शब्द तत्परब्रह्म परमात्मा समीयते ।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तेऽपि मनोन्मनी ॥ ४८ ॥

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्द परम पदम् ।
सदानादानुसंधानात्सक्षीणा वासना तु या ॥ ४९ ॥

निरंजने विलीयेते मनोवायू न संशयः ।
नाद कोटि सहस्राणि बिन्दुकोटि शतानि च ॥ ५० ॥

सर्वे तत्र लय यान्ति ब्रह्म प्रणव नादके ।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सर्वचिन्ता विवर्जितः ॥ ५१ ॥

मृतस्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र सशयः ।
शंखदुदुभिनाद च न श्रृणोति कदाचन ॥ ५२ ॥

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थयाध्रुवम् ।
न जानति स शीतोष्ण न दुखं न सुखं तथा ॥ ५३ ॥

न मानं नावमान च सन्त्यक्त्वा तु समाधिना ।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥ ५४ ॥

जाग्रन्निद्रा विनिर्मुक्त स्वरूपावस्थतामियात् ॥ ५५ ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य बिना सदृश्य वायुःस्थिरो यस्य बिना प्रयत्नम् ।
चित्त स्थिर यस्य विनावलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनाद रूप ॥५६॥"

❋ परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्[1]

[यहाँ ब्रह्म प्रणव और उसकी सोलह मात्राओं का विवरण देते हुए उन्मनी और मनोन्मनी का उल्लेख किया गया है ।]

'भगवान् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच नारायणः । ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयचतुष्टय गोचरः । जाग्रदवस्थाया जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादि चतस्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति । जाग्रदवस्थाया विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति । स्वप्नावस्थायांतैजसस्य चातुर्विध्य तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति । सुषुप्त्यवस्थाया प्राज्ञस्य चातुर्विध्य प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञ प्राज्ञतुरीय इति । तुरीया-

---

१—वही, पृ० ३८२ से उद्धृत ।

वस्थाया तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसतुरीयप्राज्ञस्तुरीयतुरीय इति। ते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रतुरीयो बिन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतैजसः कलाया स्वप्नप्राज्ञः कलातीते स्वप्नतुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषुप्त तैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्या सुषुप्त तुरीयः तुर्यां तुरीय विश्वो मध्यमाया तुरीय तैजसः पश्यन्त्या तुरीयप्राज्ञः पराया तुरीयतुरीयः। जाग्रन्मात्रा चतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्रा चतुष्टय मुकारांश सुषुप्तिमात्रा चतुष्टय मकारांश तुरीयमात्रा चतुष्टयमर्धमात्रांशम्। अयमेव ब्रह्मप्रणवः। सपरमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः। तेनैव ब्रह्म प्रकाशते तेन विदेह मुक्तिः।"

योगशिखोपनिषत्[1]

[प्रस्तुत उपनिषद् के छठें अध्याय का प्रारम्भ इस प्रश्न के साथ होता है—
'उपासनाप्रकार मे ब्रूहि त्वं परमेश्वर। येन विज्ञातमात्रेण मुक्तो भवति संसृतेः॥ १॥'
इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व एक वन्दना की गई है जिसमें सुषुम्ना, कुण्डलिनी, चन्द्रमण्डल से स्रवित होने वाली सुधा मनोन्मनी तथा चिदात्मना महाशक्ति को नमस्कार किया गया है—

"सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात्।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्य महाशक्त्यै चिदात्मने॥"

अध्याय के अन्त में मन पर विचार किया गया है और प्रतिपादित किया गया है कि—

'चित्ते चलति संसारो निश्चल मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात्प्रज्ञया परया विधे॥ ५८॥

चित्त कारणमर्थाना तस्मिन्सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्य प्रयत्नतः॥ ५९॥

मनोह गगनाकार मनोह सर्वतोमुखम्।
मनोह सर्वमात्मा च न मनः केवल परः॥ ६०॥

मन' कर्माणि जायन्ते मनोलिप्यति पातकैः।
मनश्चेदुन्मनीभूयान्नपुण्यं न च पातकम्॥ ६१॥

---

१ वही, पृ० २७२ से उद्धृत।

मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्य यदाभवेत् ।
ततः पर परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ।। ६२ ।।
मनसा मन आलोक्य मुक्तो भवति योगवित् ।
मनसा मन आलोक्य उन्मन्यन्तं सदा स्मरेत् ।। ६३ ।।
मनसा मन आलोक्य योगनिष्ठः सदाभवेत् ।
मनसा मन आलोक्य दृश्यन्ते प्रत्ययादश ।। ६४ ।।
यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरो भवेत् ।। ६५ ।।"

※ ब्रह्मबिन्दूपनिषत्[1]

ॐ मनोहि द्विविध प्रोक्त शुद्ध चाशुद्धमेव च ।
अशुद्ध कामसकल्प शुद्ध कामविवर्जितम् ।। १ ।।
मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो. ।
बन्धाय विषयासक्त मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ।। २ ।।
यतो निर्विषयस्यास्यमनसो मुक्तिरिष्यते ।
तस्मान्निर्विषय नित्य मनः कार्यं मुमुक्षुणा ।। ३ ।।
निरस्त विषयासग सन्निरुद्ध मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदातत्परमं पदम् ।। ४ ।।
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्हृदि गत क्षयम् ।
एतज्ज्ञान च मोक्षं च अतोन्यो ग्रन्थ विस्तरः ।। ५ ।।
नैव चिन्त्य चाचिन्त्यमचिन्त्य चिन्त्यमेव च ।
पक्षपात विनिर्मुक्त ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ६ ।।
स्वरेण सन्धयेद्योगमस्वर भावयेत्परम् ।
अस्वरेण हि भावेन भावोनाभाव दृष्यते ।। ७ ।।
तदेव निष्कल ब्रह्म निर्विकल्पं निरजनम् ।
तद्ब्रह्माहीमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यतेध्रुवम् ।। ८ ।।
निर्विकल्पमनन्त च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनाद्य च ज्ञात्वा च परम शिवम् ।। ९ ।।

1—वही, पृ० ११९ से उद्धृत ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबन्धो न च शासनम् ।
न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता ।। १० ।।'

*पैंगलोपनिषत्[1]

[इस उपनिषद् के चौथे अध्याय का प्रारम्भ पैंगल के इस प्रश्न से होता है कि 'ज्ञानियों के कर्म क्या हैं और उनकी स्थिति क्या है ?' प्रश्न के जवाब में याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मज्ञान का महात्म्यवर्णन करके ब्रह्मज्ञान को ही कर्म बताया है और इस ब्रह्मज्ञान के लिए ध्यानयोग की चरम परिणति उन्मनी है जिसे उपलब्ध करके योगी अद्वैत स्थिति में पहुँच जाता है ।]

"तपेद्वर्ष सहस्राणि एक पादस्थितो नरः ।
एतस्य ध्यानयोगस्य कला नार्हति षोडशीम् ।। १५ ।।
इदं ज्ञानमिदज्ञेय तत्सर्वं ज्ञातुमिच्छति ।
अपि वर्ष सहस्रायुः शास्त्रान्त नाधिगच्छति ।। १६ ।।
विज्ञेयोऽक्षर तन्मात्रो जीवित वापि चञ्चलम् ।
विहाय शास्त्र जालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ।। १७ ।।
अनन्त कर्म शौच च जपो यज्ञस्तथैव च ।
तीर्थयात्राभिगमन यावत्तत्त्व न विन्दति ।। १८ ।।
अह ब्रह्मेति नियत मोक्षहेतुमहात्मनाम् ।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च ।। १९ ।।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।
मनसो ह्युन्मनी द्वैत नैवोपलभ्यते ।। २० ।।
यदायात्युन्मनीभावस्तदा तत्परम पदम् ।।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र पर पदम् ।। २१ ।।
तत्र तत्र परंब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ।
हन्यान्मुष्टिभिराकाश क्षुधार्तः खण्डयेत्तुषम् ।। २२ ।।

*हंसोपनिषत्[2]

[इसमें उन्मनन शब्द का प्रयोग हुआ है । परमहंस की अष्टधावृत्तियों का उल्लेख करते हुए उन्मनन जप की बात की गई है ।]

१—वही, पृ० ३३७ से उद्धृत ।
२—वही, पृ० १२३-२४ देखिए ।

"एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशः येनेदं व्याप्तम्। तस्याष्टधावृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति याम्ये क्रूरे मतिः नैर्ऋते पापे मनीषा वारुण्यां क्रीडा वायव्ये गमनादौ बुद्धिः सौम्ये रतिप्रीतिः ईशाने द्रव्यादानं मध्ये वैराग्यं केसरे जाग्रदवस्था कर्णिकायां स्वप्नं लिंगे सुषुप्तिः पद्मत्यागे तुरीयं सदा हंसो नादे लीनो भवति तदा तुर्यातीत मुन्मनन जपोपसंहारमित्यभिधीयते। एवं सर्वं हंसवशात्तस्मान्मनो हंसो विचार्यते।"

हठयोग प्रदीपिका

"मारुते मध्य संचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी" ॥ २,४२ ॥

× × ×

"राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परंपदम् ॥ ४,३ ॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरंजनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येक वाचकाः ॥" ४,४ ॥

× × ×

"तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनोयुञ्जन्नुन्मनी कारकः क्षणात् ॥ ४,३८ ॥
केचिदागमजालेन केचिन्निगम संकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैवजानन्ति तारकम् ॥ ४,३९ ॥
अर्धोन्मीलित लोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः।
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्द भावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेष बीज मखिल देदीप्यमानं परम्।
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यकिमत्राधिकम् ॥ ४,४० ॥
दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौचैव न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रि निरोधतः" ॥ ४,४१ ॥

× × ×

"अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते" ॥ ४,४६ ॥

× × ×

'मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनी भावाद् द्वैत नवोपलभ्यते ।।" ४, ६० ।।

× × ×

"उन्मन्यवाप्तयेशीघ्र भ्रूध्यान मम सम्मतम् ।
राजयोग पदं प्राप्त सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ।।
सद्यः प्रत्यय संधायी जायते नादजोलयः ।।' ४, ७९ ।।

× × ×

'तत्व बीजः हठः क्षेत्रमौदासीन्य जल त्रिभिः ।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ।। ४, १०२ ।।

× × ×

शख दुदुभि नाद च न श्रृणोति कदाचन ।
काष्ठवज्जायते देहे उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।। ४, १०६ ।।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सर्वचिन्ता विवर्जित. ।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र सशयः ।। ४, १०७ ।।
खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ।। ४, १०८ ।।
न गध न रस रूप न च स्पर्शं न निस्वनम् ।
नात्मान न पर वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ।। ४, १०९ ।।
चित्त न सुप्त नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृति वर्जितम् ।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ युक्त एव स. ।। ४, ११० ।।
न विजानाति शीतोष्णं न दुख न सुख तथा ।
न मान नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ।। ४, १११ ।।
स्वस्थो जाग्रदवस्थाया सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।
निश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चित मुक्त एव स ।। ४, ११२ ।।
अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्व देहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्र यन्त्राणा योगी युक्तः समाधिना ।' ४, ११३ ।।

× × ×

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्र जन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्य महाशक्त्यै. चिदात्मने ।। ५, ६४ ।।

※ घेरण्ड संहिता

"प्राणायामात्खेचरत्व प्राणायामाद्रोगनाशनम् ।
प्राणायामाद्बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी ॥" ५, ५६ ॥

× × ×

"यावज्जीवो जपेन्मंत्रमजपासख्य केवलम् ।
अद्यावधि धृत सख्या विभ्रम केवलीकृते ॥ ५, ९० ॥
अतएव हि कर्तव्यः केवली कुम्भको नरैः ।
केवली चाजपा सख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥" ५, ९१ ॥

× × ×

"स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूकम् ।
चिंतयेद्भक्तियोगेन परमाह्लाद पूर्वकम् ॥ ७, १४ ॥
आनन्दाश्रु पुलकेन दशाभावः प्रजायते ।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी ॥" ७, १५ ॥

※ गोरक्ष पद्धति

"एक सृष्टिमय बीजमेकामुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥" १६ ॥ पृ० ४० ॥

※ सिद्धसिद्धान्त संग्रह

[सिद्ध सिद्धान्त के जानकार शून्य के पाँच गुणों में उन्मनी को भी एक गुण मानते हैं ।]

"नीलता पूणता मूर्छा उन्मनी लयतेत्यमी ।
शून्ये पच गुणाः प्रोक्ता. सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥" १, १८ ॥

× × ×

"बन्ध भेद मुद्रा गलबिलचिबुक मध्यमार्ग सुषुम्णा
चन्द्रार्के सामरस्य शमदमनियमैर्नादबिन्दु कलान्ते ।
ये नित्य कलयन्ते तदनु च मनसामुन्मनी योगयुक्त
तेषां लोकामयन्ते निजसुखविमुखाः कर्मदुःखौघभाजः ॥" ७, ९ ॥

※ षट्चक्र निरूपणम्[1]

१—सोलह आधारों में उन्मनी भी एक आधार है—

'मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूरमनाहतम् ।
विशुद्धमाज्ञाचक्रं च बिन्दुर्भूयः कलापदम् ॥
निबोधिका तथार्धेन्दुर्नादो नादो नादान्त एव च ।
उन्मनी विष्णुवक्त्र च ध्रुवमण्डलिकः शिवः ॥
इत्येतत् षोडशाधारं कथितं योगिदुर्लभम् ॥' पृ० ४७ ॥

२—'षट्चक्रनिरूपण' के ३६ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए पुरबन्धन (अन्तरात्मा के निरोध) की बात की गयी है और पुरबन्धन की कारणभूता योनिमुद्रा[2], का लक्षण बताकर कहा गया है कि इस मुद्रा द्वारा वायुरोध करने से मन स्थिर हो जाता है। टीकाकार ने पुरबन्धन के लिए योनिमुद्रा के साथ ही खेचरी मुद्रा का भी उल्लेख किया है क्योंकि, उसके मत से, खेचरी मुद्रा से भी मनःस्थैर्य आता है। इसके बाद वह कहता है—

'अत्र चित्तस्य खेचरत्वान्मनः संयोगाभावेन विषयज्ञानरहितत्वाद् उन्मनी भवति। अतएवोक्तम्—"उन्मन्या सहितो योगी न योगी उन्मनी विना।"
—दे० पृ० ५१

३—'षट्चक्र निरूपण'—के ३९ वें श्लोक के 'लयस्थान' पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने बहुत सारी सम्भावनाओं का विवरण दिया है। इसी क्रम में उसने सम्मोहन तंत्र को उद्धृत करके उन्मनी को लयस्थान सिद्ध किया है जहाँ जाकर पुनः वापस नहीं आना पड़ता। सम्मोहन तन्त्र के अनुसार—

'इन्दुर्ललाटदेशे च तदूर्ध्वे बोधिनी स्वय ।
तदूर्ध्वेभाति नादोऽसावर्धचन्द्राकृतिः परः ॥
तदूर्ध्वे च महानादो लागलाकृतिरुज्ज्वलः ।
तदूर्ध्वे च कला प्रोक्ता आञ्जीति योगिवल्लभा ॥
उन्मनी तु तदूर्ध्वे च यद्गत्वा न निवर्तते ॥' दे० पृ० ५९ ॥

१—सर्पेण्ट पावर (आर्थर अवेलन)में संग्रहीत ।
२—दे० पीछे, परिशिष्ट १ [क]

४—उपर्युक्त प्रसग और उद्धरण की व्याख्या करते हुए टीकाकारने उन्मनी का लक्षण बताया है—

"यत्र गत्वा तु मनसो मनस्त्व नैव विद्यते।
उन्मनी सा समाख्याता सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥"

इस पर आगे टीका करते हुए कहा गया है—

"ततश्च मनोवृत्तिमद्विषयालम्बनचेष्टाकालीन विषयावलम्बनसामान्याभाव-सपादन तत्वमुन्मनीत्वमिति। सा च द्विविधा, सहस्राराधारा, निर्वाणकलारूपा एतत्स्थानस्थिता वर्णावली रूपा। तथा च कंकालमालिनीतंत्रे—

"सहस्रारकर्णिकाया चन्द्रमण्डलमध्यगा।
सर्वसकल्प रहिता कला सप्तदशी भवेत्।
उन्मनी नाम तस्याहि भवपाश निकृन्तनी॥"

इति। तथा—"उन्मनी च मालावर्ण स्मरणात् मोक्षदायिनी।" इति। मालावर्णे वर्णावलीरूपमित्यर्थः। उन्मन्यधः समनीमाह भूतशुद्धौ—

"ततो हि व्यापिका शक्तिर्यामाञ्जीति विदुर्जनाः।
समनीमूर्ध्वतस्तस्या उन्मनीं तु तदूर्ध्वतः॥"

इति। इदमपि परशक्तेरवान्तररूपम्। ततश्चाज्ञा चक्रोर्ध्वे द्वितीय बिन्दुः शिव-स्वरूपः, तदूर्ध्वे अर्धमात्राकारा बोधिनी शक्तिः, तदूर्ध्वे शिवशक्तिसमवायरूपार्धं चन्द्राकृतिर्नादः, तदूर्ध्वे लागलाकृतिर्महानादः, तदूर्ध्वे आञ्जीरूपा व्यापिका शक्तिः, तदूर्ध्वे समनी, तदूर्ध्वे उन्मनी क्रमेण सप्तकारण रूपाणि वर्तन्ते।"—वही, पृ० ६१

५—षट्चक्रनिरूपण का ४९ वॉं श्लोक है—

"तस्यामध्यान्तराले शिवपदममलंशाश्वत योगिगम्य
नित्यानन्दाभिधान सकल सुखमय शुद्धबोधस्वरूपम्।
केचिद्ब्रह्माभिधान पदमिति सुधियो वैष्णवतल्लपन्ति
केचिद्हाख्यमेतत्किमपि सुकृतिनोमोक्षमात्मप्रबोधम्॥"

इसकी व्याख्या करते हुए श्री विश्वनाथ ने 'षट्चक्रनिरूपणवृत्ति' में उन्मनीपद का विचार किया है—

'उन्मनीपदमाह—तस्यामध्यान्तराले इत्यादिना। तस्याः, समनायाः। मध्यान्तराले; अत्र सामीप्ये सप्तमी। शिवतनुममलम्, शिवतनुप्राप्तिस्थानम् उन्मनीति यावत्। × × × सूक्ष्मार्यशक्त्यवच्छिन्न शिवतनु मित्यर्थः तथा च स्वच्छन्दसंग्रहे—

"या शक्तिः कारणत्वेन तदूर्ध्वं उन्मनी स्मृता ।
नात्र काल कलाभावो न तत्त्व न च देवताः ॥
सुनिर्वाणं परं शुद्ध रुद्रवक्त्र तदुच्यते ।
शिवशक्तिरिति ख्याता निर्विकल्पा निरञ्जना ॥
तत्त्वातीत वरारोहे———————— ।"

× × × । मनः सहितत्वात् समना । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुत्या 'वाङ्मनोऽतीतगोचरत्वादुन्मना' इति अमृतानन्द स्वामिन' । 'शक्तिमध्यगतो नादः समनान्तं प्रसर्पति ।' इति स्वछन्द संग्रहात् नात्र कालकलाद्यस्य मानम् । परमकुलपदमिति, पर उन्मन्याः परं । अकुलपदम्, अकुलाख्य .परशिवात्मकपद, विश्वस्य विश्रामस्थानत्वात् । पदमिति अमलं सत्त्वादि त्रिगुणमुक्तम् । शाश्वत; नित्यम् । योगिगम्यम्; योगेन प्राप्तम् । नित्यानन्दमभिधान यस्य तत् । 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इति श्रुतेः । शुद्धबोधप्रकाशम्; शुद्धबोधस्य शुद्धज्ञानस्य प्रकाशो यस्मात् । तथा च टीकाकारधृततंत्रे—

'उन्मन्यन्ते परः शिवः ।' इति

स्वच्छन्दसंग्रहे "उन्मनीमभिधाय—तत्त्वातीत वरारोहे वाङ्मनोनैवगोचरम्'

—दे० वही, षट्चक्रनिरूपणवृत्तिः, पृ० १२१-२२, ।

*कालावली निर्णय

'धर्माधर्मे हविर्दीप्त आत्माग्नौ मनसा श्रुचा ।
सुषुम्ना वर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम् ॥
वह्नि जायान्तमन्त्रेण द्वितीयाहुति माचरेत् ।
प्रकाशाकाश हस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीश्रुचा ॥ ३, १३-१४ ॥

उन्मनी सम्बन्धी मूलवचन

[ख] नाथ-साहित्य

*गोरखबानी[1]

अह निसि मन लै उनमन रहै, गम की छाँड़ि अगम की कहै ।
छाड़ै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास ॥ सबदी १६ ॥

× × ×

१—गोरख-बानी, स० डा० बड़थ्वाल, द्वितीय सस्करण २००३, ।

देव कला ते सजम रहिबा भूतकला अहार ।
मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी ततसार ॥ स० ३४ ॥

× × ×

यहु मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पाँच तत्त का जीव ।
यहु मन लै जै उनमन रहै । तो तीनि लोक की बाता कहै ॥स० ५०॥
अवधू नवघाटी रोकि लै बाट । बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटै अविचल विध । छाया विवरजित निपजै सिध ॥ ५० ॥
अवधू दम कौं गहिबा उनमनि रहिबा ज्यू बाजबा अनहद तूर ।
गगन मडल मैं तेज चमकै चद नहीं तहाँ सूर ॥ ५१ ॥
सास उसास बाइ कौं भषिबा रोकि लेहु नव द्वार ।
छठै छमासि काया पलटिबा तब उनमनी जोग अपारं ॥ ५२ ॥
अवधू सहस्र नाड़ी पवन चलैगा कोटि झमकै नाद ।
बहतरि चदा बाई सोष्या किरणि प्रगटी जब आद ॥ ५३ ॥
अमावस कै घरि झिलमिल चदा पूनिम कै घरि सूर ।
नाद कै घरि व्यद गरजै बाजत अनहद तूर ॥ ५४ ॥
उलटत नाद पलटत व्यद बाई कै घरि चीन्हसिज्यद ।
सुनिमडल तहाँ नीझर झरिया चद सुरजि लै उनमनि धरिया ॥ ५५ ॥

× × ×

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पाणीं ।
लका छाडि पलका जाइबा तब गुरमुष लेबा बाणी ॥ ६४ ॥

× × ×

असाध साधत गगन गाजत उनमनी लागत ताली ।
उलटत पवन पलटत बाणी अपीव पीवत जे ब्रह्मग्यानी ॥ ९० ॥
सन्यासी सोई करै सर्वनास गगन मडल महि माडै आस ।
अनहद सू मन उनमन रहै सो सन्यासी अगम की कहै ॥ १०३ ॥

× × ×

चेता रे चेतिबा आपा न रेतिबा । पच की मेटिबा आसा ।
बदत गोरखसति ते सूरिवा । उनमनि मन मैं बासा ॥ ११४ ॥

× × ×

तूटी डोरी रस कस बहै । उनमनि लाग अस्थिर रहै ।
उनमनि लागा होइ अनद । तूटी डोरी विनसै कद ॥ १२८ ॥

× × ×

उनमन जोगी दसवैं द्वार । नाद ब्यद ले धूंधूकार ।
दसव द्वारे देइ कपाट । गोरख षोजी औरे बाट ॥ १३५ ॥

× × ×

परचय जोगी **उनमन** षेला । अहनिसि इछ्या करै देवता स्यू मेला ।
षिन षिन जोगी नाना रूप । तब जानिबा जोगी परचय सरूप ॥ १३८ ॥

× × ×

सोना ल्यौ रस सोना ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे ।
धमणि धर्मी रस जामणि जाम्या,
तब गगन महारस मिलिया रे ॥ टेक ॥
आपैं सोना नै आप सुनारी, मूल चक्र अगीठा ।
अहरणि नाद मैं ब्यद हथौड़ा, घटि स्यू गगन बईठा । १ ।
अबै आरण नै बिबे कोइला, सहज फूक दो नलियाँ ।
चद सूर दोऊ समि करि राष्या आपैं आप जु मिलिया । २ ।
रती का काम मासे की चोरी, रती मैं मासा चोरै ।
मासा चोरि रहै मासे मैं, इहि बिधि गरथैं जोरै । ३ ।
अरधे सोना उरधे सोना, मध्ये सोनमू सोना ।
तीनि सुन्य की रहनी जानैं, ता घटि पाप न पुना । ४ ।
उनमनि डाडी मन तराजू, पवन कीया गदियाना ।
आपै गोरषनाथ जोषण बैठा, तब सोना सहज समाना ॥ ५ ॥ पद स० ६

माहरा रे बैरागी, अहनिसिमोगी, जोगणि सग न छाडै ।
मानसरोवर मनसा झूलती आवै, गगन मडल मठ माडै रे ॥ टेक ॥
कौंण अस्थानिक तोरा सासू नैं सुसरा, कौंण अस्थान तोरा बासा ।
कौंण अस्थान क तू नै जोगण भेंटी, कहा मिल्या घर बासा ॥ १ ॥
नाभ अस्थान मोरा सासू नैं सुसरा, ब्रह्म अस्थान क मोरा बासा ।
इला प्यगुला जोगण भेंटी, सुषमन मिल्या घर बासा ॥ २ ॥
काम क्रोध वाली चूना कीधा' कद्रप कीया कपूर ।
मन पवन दो काय सुपारी, उनमनी तिलक सेंदूर ॥ ३ ॥
ग्यान गुरु दोऊ तूंबा अम्हारै, मनसा चेतनि डाडी ।
उनमनी ताती बाजन लागी, यहि विधि तृष्ना षाडी ॥ ४ ॥
एणैं सतगुरि अम्हें परणाव्या, अबला बाल कुंवारी ।
मछिंद्र प्रसाद श्रीगोरष बोल्या, माया ना मौ टारी ॥ ५ ॥ पद १६.

ॐ। अबिगत उतपतते ॐ। ॐ उतपतते आकास। आकास उतपतते बाई। बाई उतपतते तेज। तेज उतपतते तुया। तुया उतपतते मही। मही रूप देवी का रग। जल रूप ब्रह्मा का बरण। तेज रूप बिश्न की माया। पवन रूप ईश्वर की काया। आकास रूप नाद की छाया। नाद रूप अबिगत उपाया। सुनि निरजन भूचर देव। भूचर का नहीं पाया भेव। अगम अगोचर। अनत तरवर। अनन्त साषा। ससवेद परम भेद। भेदा निभेद। आतमा ध्यान ब्रह्म ग्यान। षेचरी मुद्रा। भूचरी सिधि। चाचरी निधि। अगोचरी बुधि। **उनमनी** अवस्था। अनभै करामाति। अतीत देवता। अबिगत पूजा। अनील आश्रम, अध्यातम बिद्या। गगन आसन।...... आदि।—सिष्या दरसन, पृ० १५९.

दुतिया द्वै कुल उध्धरन धीर। **उनमन** मनवा अरवलि सरीर।
बाहरि भीतरि एककार। गुरु प्रसादैं भौ निधि पार॥ पद्रहतिथि, २॥

+ + +

सतन सतरज तम गुण बधि। पावौ जीवण मरण की सधि।
अबिहड़ अजर अमर पद गहौ। मन पवन ले **उनमन** रहौ॥ वही ८॥

❀ नाथ सिद्धों की बानियाँ[1]

१ सिंघ रूप निसक नृभै।
निडर निसपति **उनमनी**॥
जोति रूप प्रकास पूरन।
सोहं दत्तं डिगम्बरं[2]॥ ६॥ ३९॥

२ मूल सींचौ रे अवधू मूल सींचौ।
ज्यूं तरवर मेल्हंत मालं॥
अझै चौरंगी मूल सीचिया।
यौं अनभै उतर्‌या पारं॥ १॥ ३४३॥
मारिबा तौ मन मस्त मारिबा।
लूटिबा तौ पवन भमारं॥
साधिबा तौ चिरतत्त साधिबा।
सेइबा निरंजन निराकारं॥ २॥ ३४४॥

१—स० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रथम सस्करण, ना० प्र० सभा, काशी।
२—वही, दत्त असतोत्र, शकराचार्य विरचित, ३ ६।

अगनि षेति अगनि जालिबा।
पानी षेती सोषिबा पानी॥
बाई षेती बाइ फेरिबा।
तब आकास मुषि बोलिबा बाणी॥ ३॥ ३४५॥
माली लो भल माली लो।
सीचै सहज कियारी॥
उनमनी कला एक पुहुप निपाया।
आवागमन निवारी[1]॥ ४॥ ३४६॥

३-ॐ गुरु जी-श्री गोरक्षनाथ योगेन्द्र युगपति निगम आगम यश गावते।
श्री शंकर शेष विरचि शारद नारद बीन बजावते॥
श्री गोरक्ष चर्णो प्रणाम्यह।
जय श्री नाथ जी के चर्णो प्रणाम्यह।
जति गोरक्ष के चर्णो प्रणाम्यह॥ टेर॥

× × ×

ॐ गुरुजी—अग भस्मी असग निर्मल उनमन ध्यान सदारता।
चन्द्र भानु समान लोचन कान कुण्डल सोभिता[2]॥३॥

४—लोका मधे लोकाचार।
सतगुर मधे एककार॥
जे तू जोगी त्रिभुवनमार।
तऊ न छाडै लोकाचार॥१०॥ ३७४॥
जे तू छाडिस लोकाचार।
तौ तू पायेसि मोष दुवार॥
उनमनि मडप तहा निरबाण देव।
सदा सजीवनि भाव न भेव॥
लौलीन पूजा तहा दीव न धूप।
इति वति भाषत दत अवधूत[3]॥ ११॥ ३७५॥

५—षिमा जापं सील सेवा।
पंच इद्री हुतासन॥

१—वही, चौरगी नाथ जी की सबदी, पृ० ४८।
२—वही, श्रीनाथाष्टक (सिद्ध चौरगीनाथ वर्णित, पृ० ४९।
३—वही, दत्तजी (दत्तात्रेय) जी की सबदी, पृ० ५६।

उनमनि मडप निरवान देव ।
सदा जीवत भाव ना भेव ॥
लौलीन पूजा मन पहूप ।
सति सति भाषत श्री दत्त अवधूत ॥ १ ॥ ३८२ ॥

अस्थूल मदिर मन धजा ।
साँच तुलसी सील मजरी ॥
दया पहोप सतोष कलस ।
गिनान घटा सुरति आरती ॥
आतमदेव अनूप पूजा ।
अषड मूरति उरमो सदा ॥२॥ ३८३ ॥

करम भरम हम क्याइ करते ।
नइ क्रम सत गुर लषाया ॥
करम भरम का ससा त्यागा ।
सबद अगोचर पाया ॥
उनमन रहना भेद न कहना ।
पीवना नीझर पानी ॥
पानी का सा रग ले रहनो ।
यू बोलत देवदत्त वानी[1] ॥ ३ ॥ ३८४ ॥

६. दारू तैं दाष उतपनी ।
दाष कथी नहीं जाई ।
दाष दारू जब परचा भया ।
दाष मैं दारू समाई ॥
पूरब उतपति पछिम निरतर ।
उतपति परलै काया ।
अभिअतरि पिंड छाडि ।
प्रांन भरपूर रहै ।
सिघ सकेत नागा अरजन कहै ॥ १ ॥ ४२८ ॥

आया मेटिला सतगुर थापिला ।
न करिबा जोग जुगति का हेला ।

१—वही, पृ० ५८ ।

उनमन डोरी जब षैंचीला ।
तब सहज जोति का मेला[1] ।। २ ।। ५२१ ।।

७. चहुँ दिसि जोगी सदा मलग ।
षेरवै बर कांमिनि इक सग ।।
हसै षेलै राषै भाव ।
राषै काया गढ़ का राव ।। १ ।। ५८० ।।

दस दरवाला राषै नाण ।
भीतरि चोर न देई जाण ।
ज्ञान कछोटी बाँधै कसि ।
पाचौ इन्द्री राषै बसि ।। २ ।। ५८१ ।।

पवन पियाला मषिबो करै ।
उनमनी ताली जुगि जुगि घरै ।
रामैं आगे लषमन कहै ।
जोगी होइ सुइहि विधि रहै ।। ३ ।। ५८२ ।।

अलप बिंद तैं दुनिया उपनी ।
बहुता बिंद तैं षोया ।।
एक बिंद की षबरि न जानी ।
मूए बिंद कू रोया[2] ।। ४ ।। ५८३ ।।

८. यह मन राइ जगत्त बिनपै ले ।
उदरि मारि ले बिलाई ।
बिमलौ बिचारौ हो जोगि हो ।
सिव घर सक्ति समाई ।। १३ ।।

गोरषनाथ गुरु सिष बालगुदाई ।
पूछत कहिबा सोई ।
उनमनि ताली जोत्ति जगाई ।
सिधा घरि दीपग होई[3] ।। १४

---

१. वही, नागाअरजन की सबदी, पृ० ६७ ।
२. वही, बालनाथ जी की सबदी, पृ० ९१. और भी, पृ० ९४ ।
३. वही, बाल गुदाई जी की सबदी, पृ० ९५.

९. चद्र मडल मधे सूरीयो सचारि ।
काल विकाल आवता निवारि ।
उनमनि रहिबा धरिबा धयान ।
सकर बोलति सहज बाणि[1] ॥ १२ ॥ ६९३ ॥

१०. ग्यानी सो जो ग्यान मुष रहई ।
मेटि पच का आसा ॥
उर अतर उनमनी लगावै ।
अगम गवन करे बासा[2] ॥

---

१. वही, महादेव जी की सबदी, पृ० ११६.
२. वही, मीड़की पाव जी की सबदी, अतिरिक्त पाठ, पृ० ११९.

उन्मनी सम्बन्धी मूलवचन

[ग] संत-साहित्य

कबीर

कबीर ग्रंथावली[1]

१—अवधू मेरा मनु मतिवारा।

उनमनि चढ़ा मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजिआरा।

गुण करि ग्यान ध्यान करि महुआ भौ भाठी मन धारा॥

सुखमनि नारी सहज समानीं पीवै पीवनहारा॥ १॥

दोइ पुर जोरि रसाई भाठी चुआ महा रसु भारी।

कामु क्रोध दुइ किए बलीता छूटि गई ससारी॥ २॥

सहज सुन्नि मैं जिन रस चाखा सतिगुर तैं सुधि पाई।

दासु कबीर तासु मद माता उछकि न कबहूँ जाई॥ ३॥

—पद ५६, पृष्ठ ३२।

× × ×

२—सतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया सबद जु कहा समाई।

एहि ससा मोहिं निस दिन ब्यापै कोइ न कहै समझाई॥ टेक॥

नहीं ब्रह्मड पिंड पुनि नाहीं पच तत्त भी नाहीं।

इला पिंगला सुखमनि नाहीं ए गुण कहां समाहीं॥ १॥

नहीं ग्रिह द्वार कछू नहिं तहिया रचनहार पुनि नाहीं।

जोड़न हारो सदा अतीता इह कहिऐ किसु माहीं॥ २॥

१—संपादक, डॉ० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी-परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रथम सस्करण, १९६१।

टूटै बधै बंधै पुनि टूटै जब तब होइ बिनासा।
तब को ठाकुर अब को सेवग को काकै बिसवासा ॥ ३ ॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै जौ धागा उनमांनां।
सीखें सुनें पढ़ें का होई जौ नहिं पदहिं समाना ॥ ४ ॥
— पद ११३, पृष्ठ ६६-६७।

× × ×

३—पवनपति उनमनि रहनु खरा।
तहा जनम न मरन जुरा ॥ टेक ॥
मन बिंदत बिंदहिं पावा । गुरमुख तैं अगम बतावा ॥ १ ॥
जब नख सिख यहु मन चीन्हा । तब अंतरि मज्जनु कीन्हा ॥ २ ॥
उलटीले सकति सहार । पैसीले गगन मझारं ॥ ३ ॥
बेधीले चक्र भुअगा । भेटीले राइ निसगा ॥ ४ ॥
चूकीले मोह पियास । तहां ससिहर सूर गरास ॥ ५ ॥
जब कुमक भरि पुरि लीना । तब बाजै अनहद बीना ॥ ६ ॥
मैं बकतै बकि सुनावा । सुरतैं तहा कछू न पावा ॥ ७ ॥
कहै कबीर बिचार । करता लै उतरांस पार ॥ ८ ॥
—पद ११५, पृष्ठ, ९८।

× × ×

४—आसन पवन दूरि करि रउरा।
छाड़ि कपट नित हरि भजि बौरा ॥ टेक ॥
का सींगी मुद्रा चमकाए । का बिभूति सब अग लगाए ॥ १ ॥
सो हिन्दू सो मूसलमान । जिसका दुरुस रहै ईमान ॥ २ ॥
सो जोगी जो धरै उनमनी ध्यान । सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियान ॥
कहै कबीर कछु आन न कीजै । राम नाम जपि लाहा लीजै ॥ ४ ॥
—पद १७२, पृष्ठ १००

\+ + +

५—हसै न बोलै उनमुनी, चचल मेला मारि।
कहै कबीर भीतरि भिदा, सतगुर कै हथियार ॥ पृ० १३८, साखी २२।
६—कबीर हरि का भावता, दूरहिं तैं दीसंत।
तन खीना मन उनमुना, जगि रूठड़ा फिरत ॥ पृ० १५६, सा० २६।
७—मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहूँचा जाइ।
चाद बिहूना चादिना, तहा अलख निरजन राइ ॥ पृ० १६७, सा० ८।

८—मन लागा उनमन्न सौं, उनमुनि मनहिं विलगि।
लौंन विलंगा पानिया, पानी लौंन विलगि॥ पृ० १७२, सा० ४० ;

९—मन दीया मन पाइए, मन बिन मन नहिं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं, अनल अकासा जोई*॥ पृ० २८, सा० २१

कबीर वाणी[1]

१०— अवधू, भूले को घर लावै।
सो जन हम को भावै॥

घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै
घर में जुक्त मुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।
सहज सुन्न में रहै समाना, सहज समाधि लगावै।
उन्मुनि रहै ब्रह्म को चीन्है, परम तत्त्व को ध्यावै।
सुरत-निरत सों मेला करके, अनहद नाद बजावै।
घर में बसत वस्तु भी घर है, घर ही वस्तु मिलावै।
कहै कबीरा सुनो हो साधू, ज्यों का त्यों ठहरावै।

—वाणी ४०, पृ० २६१–६२.

× × ×

---

*यह साखी, डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रंथावली' के पाँचवें संस्करण से ली गई है।

१—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' के परिशिष्ट २ में कुल २५६ वाणियों का संग्रह 'कबीर वाणी' नाम से किया है। इनमें से प्रथम सौ वाणियाँ आचार्य क्षितिमोहन सेन के संग्रह से उद्धृत हैं। ये वही सौ वाणियाँ हैं जिनका अंग्रेजी अनुवाद कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने किया था। इनके मूल संग्रहकर्ता आचार्य सेन ने छपी पोथियों की अपेक्षा साधुओं के मुँह से सुनी हुई वाणियों को अधिक ठीक माना था। वैज्ञानिक ढंग से पाठशोध करने-वालों के लिए इन वाणियों के पाठ जितने ही अर्थहीन हैं अर्थ विकास के विद्यार्थी के लिए वे उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे परवर्ती अर्थपरम्परा उद्घाटित होती है। यहाँ उनकी उद्धरिणी की यही सार्थकता है। पृष्ठसंख्या 'कबीर' के पाँचवें संस्करण की है।

११. सन्तो, सहज समाधि भली।
साँई ते मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अन्त चली॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा॥
जहँ जहँ जाउँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा॥
शब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन वचन का त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी॥
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, परगट कर गाई।
सुख दुख के इक परे परम पद तेहि में रहा समाई॥
—बाणी ४१, पृष्ठ २६२.

ॐसंत कबीर[1]

१२—इंगला बिनसै पिंगला बिनसै बिनसै सुखमन नारी।
जब उन्मनि की तारी टूटै, तब कहाँ रही तुम्हारी॥
१३—जीवत मरै मरै फुनि जीवै ऐसे सुन्नि समाइआ।
अंजन माँहि निरंजन रहीऐ बहुरि न भौजलि पाइआ॥
मेरे राम ऐसा खीर बिलोईऐ॥
गुरमति मनूआ असथिरु राखहु इनि बिधि अम्रित पीओईऐ॥ १॥
गुर कै बाणि बजर कल छेदी प्रगटिआ पदु परगासा।
सकति अधेर जेवड़ी भ्रमु चूका निहचल सिव घरि बासा॥ २॥
तिनि बिनु बाणै धनुखु चढ़ाईऐ इहु जगु बेधिया भाई।
दह दिसि बूडी पवनु झुलावै डोरि रही लिव लाई॥ ३॥
उनमनि मनुआ सुनि समाना दुबिधा दुरमति भागी।
कहु कबीर अनभउ इकु देखिआ रामनामि लिव लागी॥ ४॥
—राग गउड़ी, ४६

१४—इहु मन सकती इहु मन सीव। इहु मन पाँच तत्त का जीउ।
इहु मन ले जउ उनमनि धरै। तउ तीनि लोक की बातै कहै॥२३॥
—राग गउड़ी, ७५

१—डा० रामकुमार वर्मा

दादू

ॐ श्री स्वामी दादूदयाल जी की अनभै वाणी[१]

१—दादू निरतर पिव पाइया, तह पखी उनमन जाइ।
सतौं महलभेदिया, अष्टै रह्या समाइ ॥ पृ० ८४, साखी ४,

२—मन लौरू के पख है, उनमन चढ़ै अकास।
पग रहि पूरे साच के, रोपि रह्या हरि पास ॥ पृ० १५०, सा० ३४५,

३—दादू एक सुरति सौं सब रहैं, पंचौ उनमन लाग।
यहु अनभै उपदेस यहु, यहु परम जोग बैराग ॥ पृ० १७०, साखी २५,।

४—दादू यहु मन बरजी बावरे, घट मैं राखी घेरि।
मन हस्ती माता बहै, अकुस दे दे फेरि ॥
हस्टी छूटा मन फिरै, क्यूं ही बध्या न जाइ।
बहुत महावत पचि गए, दादू कछु न बसाइ ॥
जहा थैं मन उठि चलै, फेरि तहा ही राखि।
तह दादू लैलीन करि, साध कहैं गुरु साखि ॥
थौरे थौरे अटकिये, रहैगा ल्यौ लाइ।
जब लागा उनमन सौं, तब मन कहीं न जाइ ॥
आडा दे दे राम कौं, दादू राखै मन।
साखी दे सुथिर करै, सोई साधू जन ॥
सोई सूर जे मन गहै, निमख न चलने देइ।
जब ही दादू पग भरै, तबही पाकड़ि लेइ ॥
जेति लहरि समद की, तेते मनह मनोरथ मारि।
बैसे सब सन्तोष करि, गहि आतम एक विचारी ॥
पृ० १९४-९५, सा० २-८।

५—दादू भुरकी राम है सबद कहै गुरु ज्ञान।
तिन सबदौं मन मोहिया उनमन लागा ध्यान ॥
सबदों माहे रामधन, जे कोइ लेइ विचारि।
दादू इस संसार मैं, कबहूँ न आवै हारि ॥
कोइ पारिख पीवै प्रीति सौं, समझै सबद विचारि।

२—उक्त पुस्तक की जो प्रति मेरे पास है उसका टाइटिल पेज फट गया है अतः सम्पादक प्रकाशक का नाम बताना कठिन है। पुस्तक बड़े आकार के पूरे ७०० पृष्ठों की है।

सबद सरोवर सूपूर भरयचा, हरिजल निर्मल नीर ॥
दादू पीवै प्रीति सौं, तिनके अखिल सरीर ॥ पृ० ३६४, सा०२१-२४

६—दादू साधन सब किया जब **उनमन** लागा मन ।
दादू सुथिर आत्मा, यौं जुग जुग जीवै जन ॥
रहते सेती लागि रहु, तौ अजरावर होइ ।
दादू देखि विचारि करि, जुदा न जीवै कोइ ॥
जेती करणी काल की, तेती परहरि प्राण ।
दादू आत्मराम सौं, जे तू खरा सुजाण ॥ पृ० ४०५ सा० १७-१९।

—प्रश्न—

७—कौण सबद कौण परखणहार, कौण सुरति कहु कौण विचार ॥ टेक ॥
कौण सुज्ञाता कौण गियान, कौण **उन्मनी** कौण धियान ॥ १ ॥
कौण सहज कहु कौण समाध, कौण भगति कहु कौण अराध ॥ २ ॥
कौण जाप कहु कौण अभ्यास, कौण प्रेम कहु कौण पियास ॥ ३ ॥
सेवा कौण कहौ गुरदेव, दादू पूछै अलख अभेव ॥ ४ ॥

—साखी उत्तर की—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार ।
निर्वैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार ॥
आपा गर्व गुमान तज, मद मंछर अहकार ।
गहै गरीबी वंदगी, सेवा सिरजनहार ॥ पृ० ४७९-८०, पद ५५

८—जोगिया वैरागी बाबा, रहै अकेला **उनमनि** लागा ॥ टेक ॥
आतम जोगी धीरज कथा, निहचल आसण आगम पंथा ॥ १ ॥
सहजैं मुद्रा अलख अधारी, अनहद सींगी रहणि हमारी ॥ २ ॥
काया वनखड पाँचौ चेला, ज्ञान गुफा में रहै अकेला ॥ ३ ॥
दादू दरसन कारनि जागै, निरंजन नगरी भिख्या माँगै ॥ ४ ॥
—पृ० ५७४, पद २३०

९—हम थैं दूरि रहि गति तेरी,
तुम हौ तैसे तुमहीं जानौ, कहा बपरी मति मेरी ॥ टेक ॥
मन थैं अगम दृष्टि अगोचर, मनसा की गति नाहीं ।
सुरति समाइ बुद्धि बल थाके, वचन न पहुँचै ताहीं ॥ १ ॥
जोग न ध्यान ग्यान गमि नाहीं, समझि समझि सब हारे ।

उनमनी रहत प्राण घट साधे, पार न गहत तुम्हारे ॥२॥
खोजि परे गति जाइ न जानी, अगह गहन कैसे आवै।
दादू अविगति देइ दया करि, भाग बड़े सो पावै ॥ ३ ॥
—पृ० ६०८, पद २९८

१०—मन मैला मनहीं स्यूँ धोइ, उनमनि लागै निर्मल होइ ॥ टेक ॥
मन हीं उपजै विषै विकार, मन हीं निर्मल त्रिभुवन सार ॥ १ ॥
मन हीं दुविधा नाना भेद, मन हीं समझै द्वै पख छेद ॥ २ ॥
मन ही चचल दहुं दिसि जाइ, मनही निहचल रह्या समाई ॥ ३ ॥
मन हीं उपजै अगनि शरीर, मनहीं शीतल निर्मल नीर ॥ ४ ॥
मन उपदेश मनहिं समझाइ, दादू यहु मन उनमन लाइ ॥ ५ ॥
पृ० ६६७, पद ३८८

११—मन पवन ले उनमन रहै, अगम निगम मूल सो लहै ॥ टेक ॥
पंच वाइ जे सहज समावै, ससिहर के घर आणै सूर।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद शब्द बजावै तूर ॥ १ ॥
बक नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवा कहीं न जाइ।
बिगसै कँवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीव की करै सहाइ ॥ २ ॥
बैसि गुफा मैं जोति विचारै, तब तेहिं सूझै त्रिभुवन राइ।
अतरि आप मिलै अविनासी, पद आनद काल नहिं खाइ ॥ ३ ॥
जामण मरण जाइ भव भाजै, अबरण के घरि बरण समाइ।
दादू जाय मिलै जग जीवन, तब यहु आवागमन विलाइ ॥ ४ ॥
पृ० ६७४-७५, पद ४०५.

---

*संत-सुधा-सार[1]

वाजिद जी[2]

कहियो जाय सलाम हमारी राम कूँ।
नैन रहे झड़ लाय तुम्हारे नाम कूँ ॥

× × ×

१—सम्पादक-श्री वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मडल, १९५३.

२—दादूदयाल के १५२ शिष्यों में से एक।

मोर करत अति सोर चमकि रही बीजरी।
जाको पीव बिदेस ताहि कहा तीज री॥
बदन मलिन मन सोच खान नहिं खाति है।
हरि हा, वाजिद, अति उनमन तन छीन रहति इह भाँति है॥५॥

× × ×

पीव बस्या परदेस कि जोगन मैं भई।
उनमनि मुद्रा धार फकीरी मैं लई॥
ढूँढ्या सब संसार क अलख जगाइया।
हरिहा, वाजिद, वह सूरत वह पीव कहूँ नहि पाइया॥८॥
खण्ड १, पृ० ५५५-५६, विरह कौ अंग।

दरिया साहब[1]

रतन अमोलक परख कर, रहा जौहरी थाक।
दरिया तहँ कीमत नहीं, उनमुन भया अबाक॥ १॥
जरती गगन पवन नहिं पानी पावक चंद न सूर।
रात दिवस की गम नहीं जहँ ब्रह्म रहा भरपूरं॥ २॥
पाप पुन्न सुख दुख नहीं, जहँ कोइ कर्म न काल।
जन दरिया जहँ पड़त है, हीरों की टकसाल॥ ३॥
खण्ड २, पृ० १०८, ब्रह्म परचे को अंग।

दरिया साहब[2]

नाक कान मुख आँख श्रुती पाँचो मुद्रा साँच।
गोचरि खीचरि भोचरी चचरी उन्मुनि पाँच॥[3]

१—दरिया साहब (मारवाड़ वाले)।
२—दरिया साहब (बिहारवाले)।
३—प्रस्तुत साखी, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी लिखित 'संतकवि दरिया : एक अनुशीलन' के पंचम खंड, पृ० २५ से उद्धृत है।